

हिन्दू-धर्म के ज्ञान-मय क्रिया-पक्ष की शोध-पूर्ण प्रस्तुति

‘कौल-कल्पतरु’

चाण्डो

(सं० १६६६ वि०-सन् १९४२ ई० से प्रकाशित)

श्रीगुरु-तत्त्व-दर्शनि



श्रीगुरु-चरण-क्रिया

अक्रिय-क्रिय-करन्ती इन्द्रियान् योजयन्तीम्,
साहसान् वर्धयन्ती रचनान् पोषयन्तीम् ।
परिश्रमं जीवयन्ती शक्तिं संरक्षयन्तीम्,
उपकरणं काशयन्ती हृत् विपाशयन्तीम् ।
स्थितिमुद्धारयन्ती नवाविष्कारयन्तीम्,
चरण - गत - पुष्पान् कृपया संकलयन्तीम् ।
भेरवीं प्रेरयन्ती ऋतं साक्षात्-करन्तीम्,
लये परिणमन्ती सप्तकान् तारयन्तीम् ।

वार्षिक शुल्क : ४५-०० रु०

‘कौल-कल्पतरु’ चण्डी

का

४८ वाँ वर्ष : सं० २०४६ वि० (अप्रैल ८९-मार्च ९०)

चैत्र शुक्लाष्टमी २०४६ वि०—अप्रैल १६८६ से ‘चण्डी’ मासिक पत्रिका का नया ४८ वाँ वर्ष प्रारम्भ हो गया है। ‘चण्डी’ के नये ४८ वें वर्ष में द्वै-मासिक प्रकाशन होगा अर्थात् वर्ष में कुल ६ अङ्क प्रकाशित होंगे। प्रत्येक अङ्क सुन्दर सचित्र पुस्तक-स्वरूप में होगा। इन अङ्कों में कमशः निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण साहित्य प्रकाशित होगा—

१ गुरु तत्त्व का माहात्म्य-निदर्शन

२ गुरु-साधना

३ महा-शक्ति-पीठ विन्ध्याचल का परिचय

४ शाक्त-धर्म का परिचय

५ हिन्दी कामाख्या तन्त्र

६ शाबर मन्त्र संग्रह

सदस्यता-शुल्क

‘चण्डी’ के ४८ वें वर्ष (३१२ पृष्ठीय) का वार्षिक सदस्यता-शुल्क पैंतालीस रु० ४५-०० रु० होगा। सदस्यता-शुल्क मनीआर्डर या बैंक-ड्राफ्ट द्वारा भेजना होगा।

विशिष्ट अङ्क

‘चण्डी’ वर्ष ४८ के उपर्युक्त छः अङ्कों के साथ-साथ छः विशेषांक अलग से प्रकाशित हो रहे हैं। यथा—१ हिन्दी भुवनेश्वरी रहस्य—पहला भाग, २ चण्डी पुराण, ३ हिन्दी भुवनेश्वरी रहस्य—दूसरा भाग, ४ क्या राम-चरित - मानस तन्त्र है?, ५ हिन्दी प्राण-तोषिणी तन्त्र—भाग ४, ६ हिन्दी शारदा तिलक तन्त्र—भाग १।

इन छः विशेषाङ्कों का मूल्य ६०-०० रु० होगा। ये विशेषाङ्क एक-एक करके वर्ष ४८ के उपर्युक्त छः अङ्कों के साथ १५-०० रु० की वो० पो० द्वारा भेजे जा सकते हैं।

इस सम्बन्ध में वर्ष ४८ का सदस्यता - शुल्क भेजते समय, मनीआर्डर - कूपन में स्पष्ट उल्लेख करने की कृपा करेंगे।

मनीआर्डर—‘चण्डी’ कार्यालय, अलोपीबाग मार्ग, इलाहाबाद—२११००६ के पते पर भेजें।

कौल-कल्पतरु चण्डी

वर्ष ४८ : चैत्र-वैशाख २०४६ वि० 'चित्र-भानु'—अप्रैल-मई १९८६ : संख्या १-२

- १ सम्पादकीय : १ गुरु-तत्त्व के स्पष्टीकरण का महत्व, २ गुरु-तत्त्व के द्रष्टा प्रो० शर्मा जी १
२ कौलाचार्य काव्य-तीर्थ पं० रामचन्द्र मिश्र : पं० धरणीधर मिश्र, गञ्जाम (उड़ीसा) ३
३ बिहार शाक्त-सम्मेलन की दो गोष्ठियाँ ४
४ बिहार में शक्ति-साधना : पं० वामाचरण मिश्र, सिंहभूम कालेज, चांडिल (बिहार) ६
५ श्रीगुरु-तत्त्व-दर्शन १-४०

सम्पादकीय

१—गुरु-तत्त्व के स्पष्टीकरण का महत्व

आध्यात्मिक साधना में सफलता तभी मिलती है, जब सद्-गुरु से सहायता मिलती है किन्तु प्रायः लोग कहा करते हैं कि 'आजकल सद्-गुरु मिलते कहाँ हैं?' वास्तव में सद्-गुरुओं का अभाव नहीं है, अभाव है सिद्ध गुरुओं का, जिनकी खोज में सामान्यतः लोग रहते हैं। साधना के सिद्धान्तों को समझने की चेष्टा न करके लोग ऐसे सिद्ध गुरु को खोज किया करते हैं, जो उनकी कामनाओं की पूर्ति अपनी 'सिद्धि' के द्वारा कर दे, उन्हें कुछ भी न करना पड़े। ऐसे लोग सहज ही आत्म-विज्ञापन में कुशल, आडम्बरी छद्म गुरुओं के चक्कर में पड़ जाते हैं और अन्त में, अपनी कामनाओं की पूर्ति न होने पर, यह कहते फिरते हैं कि सद्-गुरुओं का अभाव हो गया है।

वास्तव में 'गुरु-तत्त्व' को न समझने के कारण ही लोग 'सद्-गुरु' की खोज नहीं कर पाते। 'गुरु-तत्त्व' तो प्रायः सभी उपासकों / साधकों में अन्तर्निहित है। जो साधक गुरु से दीक्षा प्राप्त कर विधिवत् साधना कर चुके हैं, वे भले सिद्ध न हों, साधना करने की इच्छा रखनेवालों का मार्ग-दर्शन सहज ही कर सकते हैं। ऐसे साधना-मर्मज्ञों-पूर्णाभिषिक्त साधकों को सद्-गुरु रूप में वरण कर कोई भी साधना-मार्ग में अग्रसर हो सकता है और वास्तविकता यही है कि आज के बहु-संख्यक साधक ऐसे ही सद्-गुरुओं की कृपा से साधना करते हुए अपने जीवन को सार्थक कर भी रहे हैं क्योंकि उन्होंने 'गुरु-तत्त्व' को समझ लिया है, जिससे वे अपने-अपने गुरुदेव में आदि-गुरु सदा-शिव का दर्शन करते हैं तथा उनसे प्राप्त मन्त्र और इष्ट-देवता से उनके तादात्म्य की अनुभूति कर अपने-अपने अभीष्ट को प्राप्त करने में सफल होते हैं।

उसी 'गुरु-तत्त्व' को स्पष्ट करने के उद्देश्य से 'चण्डी' के प्रस्तुत विशिष्ट अङ्क 'श्रीगुरु-तत्त्व-दर्शन' का प्रकाशन किया गया है। आशा है, पाठक बन्धु इसमें प्रकाशित व्याख्याओं से गुरु-तत्त्व को हृदयङ्गम कर सकेंगे और जो अभी तक सद्-गुरु की कृपा से वञ्चित हैं, वे अपने निकटस्थ साधकों में से किन्हीं को गुरु-रूप में वरण कर अपना जीवन सार्थक कर सकेंगे।

'कौल-कल्पतरु' चण्डी :: चैत्र-वैशाख : १

२-गुरु-तत्त्व के द्रष्टा प्रो० शर्मा जी

प्रयाग विश्व-विद्यालय के दर्शन शास्त्र के प्रोफेसर मणिपुर-वासी पं० सविताशेखरधर शर्मा अध्यात्म-साधना से परिचित थे। उनके पूर्वजों में अनेक सिद्ध साधक हो चुके थे। अतः उनका साधना-संस्कार उन्हें प्राप्त था किन्तु विशिष्ट विद्वान् होने के कारण उन्हें अपने उपयुक्त कोई गुरु दिखाई नहीं देता था। श्रीपीताम्बरा-पीठ के स्व-नाम-धन्य 'राष्ट्र-गुरु' श्री स्वामी जी की यश-गाथा सुनकर शर्मा जी ने उनकी शरण में जाने का विचार किया किन्तु दुर्भाग्य से वे 'पीठ' में तब पहुँचे, जब प्रातःस्मरणीय श्री स्वामी जी ब्रह्मीभूत हो चुके थे किन्तु तपोपूत जाग्रत 'पीठ' के पुण्य दर्शन का ऐसा चमत्कार हुआ कि वापसी रेल-यात्रा में तन्द्रावस्था में ही उन्हें 'गुरु-तत्त्व' का बोध हो गया।

प्रयाग आकर एक सामान्य-से साधक से जाकर वे मिले। बातों-ही-बातों में उन दोनों के बीच गुरु-शिष्य का सम्बन्ध स्थापित हो गया। कहाँ वे दर्शन-शास्त्र के प्रोफेसर और वह भी प्रयाग विश्व-विद्यालय के और कहाँ वह अल्प-शिक्षित सामान्य साधक ! किन्तु गुरु-तत्त्व-बोध ने उनमें साधना के प्रति वह निष्ठा जाग्रत कर दी कि कतिपय वर्षों के भीतर ही वे पूर्णाभिषेक-सम्पन्न एक उच्च कोटि के साधक ही नहीं बन गये, अपितु जीवन्मुक्तावस्था को उन्होंने सहज ही प्राप्त कर लिया।

दुर्दैव से अचानक उन्हें पता चला कि उनका शरीर भीषण कैंसर रोग से ग्रस्त हो चुका है और जीवन कुछ ही दिनों का शेष है। इस जानकारी से वे तनिक भी विचलित नहीं हुए और परिवार-जनों को आश्वस्त कर उन्होंने अपना शरीर चिकित्सकों को सौंप दिया। रोग-शैथ्या में पड़े अन्तिम समय तक वे अपनी उपासना में तन्मय रहे और अपने मनोबल से चिकित्सकों के सभी उग्र उपचारों को शान्ति-पूर्वक सहन करते रहे। चिकित्सकों की अपेक्षा के विपरीत उन्होंने अपने शरीर को तब तक चैतन्य बनाये रखा, जब तक कि उनके परिवार के सभी लोग और इष्ट-मित्रादि उनकी सेवा-शुश्रूषा कर पूरी तरह सन्तुष्ट नहीं हो गए और जब कि लोग उनकी ओर से प्रायः निश्चिन्त थे, अचानक दो घण्टे के भीतर दिनाङ्क ६ मई, १९८६ को नश्वर शरीर का उन्होंने त्याग कर दिया।

इष्ट-देवता, मन्त्र और गुरु के प्रति उनकी एकाग्र-निष्ठा के फल-स्वरूप उनका देह-त्याग उनके अमरत्व में परिणत हो गया, जिसे उनके निकटवर्ती समस्त स्वजनों एवं इष्ट-मित्रों ने अनुभव किया। उनका साधना-सम्भार आज भी उनकी देव-मन्त्र-गुरु-निष्ठा के साक्षी-रूप में दर्शनीय है। धन्य हैं प्रो० शर्मा जी, जिन्होंने अपनी निष्ठा से एक सामान्य साधक को गुरु - पद पर प्रतिष्ठित कर दिया और स्वयं अमर हो गए। उनकी पुण्य स्मृति को कोटिशः नमन।

३-बिहार में शाक्त-सङ्गठन का अभूतपूर्व अभियान

'कौल-कल्पतरु' पं० देवीदत्त शुक्ल जन्म-शती समारोहों के फल-स्वरूप पटना में 'बिहार शाक्त-सम्मेलन' की स्थापना हो चुकी है, जिसकी दो गोष्ठियों का विवरण फरवरी-मार्च के अङ्क में प्रकाशित हो चुका है। विगत ८ अप्रैल को मासिक गोष्ठी हुई और २० मई को 'सम्मेलन' के तत्त्वावधान में डा० श्री रंजन सूरिदेव की अध्यक्षता में पं० देवीदत्त शुक्ल की पुण्य-तिथि के उपलक्ष्य में 'कृतज्ञ श्रद्धा-ञ्जलि' का आयोजन किया गया, जिसमें प्रमुख वक्ता के रूप में बिहार के प्रसिद्ध वयोवृद्ध साहित्यकार पं० प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त', शान्ति-निकेतन के हिन्दी-विभाग के अव० प्राप्त अध्यक्ष डा० रामपूजन तिवारी एवं 'मायेर प्रेमी मण्डल' के अध्यक्ष आचार्य पं० जीवेश्वर मिश्र उपस्थित रहे। श्रीविजय वत्स, श्री वीरेन्द्रगिरि-कुमार उमेशचन्द्र ज्योतिषी, पं० विमलनाथ झा, पं० बालेश्वर झा आदि बन्धुओं ने आयोजन का सुचारु रूप से संचालन किया। विस्तृत सचित्र विवरण 'सम्पादक की वाणी' में।

२ : 'कौल-कल्पतरु' चण्डी : : अप्रैल-मई

कौलाचार्य काव्य-तीर्थ पं० रामचन्द्र मिश्र

पं० धरणीधर मिश्र, गञ्जाम (उड़ीसा)

तन्त्र-साधना के लिए प्रख्यात उड़ीसा प्रदेश की देवी-पूजा बहुत प्रसिद्ध और पुरातन है। देवी-आराधना के लिए यह प्रदेश चिर-काल से विख्यात रहा है। आज भी इस प्रदेश के गंजाम जनपद में परम्परागत शाक्त साधकों के परिवार विद्यमान हैं। इसी जनपद की 'अष्ट-दुर्गा' नामक जमींदारी के शाक्त साधक अपनी साधना के लिए सदा स्मरणीय हैं। यहीं के निवासी थे सिद्ध साधक श्री चन्द्रचोर महा-पात्र, जिन्होंने आश्विन पूर्णिमा की तिथि में चन्द्रमा को अपने साधना-बल से अपने घर छिपाकर अमावास्या का दृश्य उपस्थित कर लोगों को चकित कर दिया था। इनके अतिरिक्त कवि-सूर्य श्री बलदेव-रथ और कवि सम्राट् उपेन्द्र भञ्ज देवी-उपासना के ही फल-स्वरूप ऐसे काव्य रचने में सफल हुए, जो कालिदास की कृतियों जैसे लोकप्रिय हुए। उनका रूपान्तर इसी से संस्कृत और अंग्रेजी भाषाओं में हो चुका है। इसी साधना-परायण क्षेत्र के नारायणपुर नामक स्थान में श्रोत्रिय ब्राह्मण-कुल के साधक-प्रवर पं० आर्तप्राण मिश्र के मध्यम पुत्र पं० रामचन्द्र मिश्र का जन्म सन् १८०० में हुआ था।

रामचन्द्र जी ने शैशव-काल में प्रारम्भिक शिक्षा अपने पूज्य पण्डित पिताजी से पाई। उसके बाद 'पारला संस्कृत महा-विद्यालय' में अध्ययन कर उन्होंने 'बिहार-उड़ीसा संस्कृत काउंसिल' से 'काव्य-तीर्थ' की उपाधि अर्जित की। मद्रास विश्व-विद्यालय से भी उन्होंने सम्मान प्राप्त किया।

पढ़ते समय ही साधक पिताजी दिवङ्गत हो गए। आर्थिक दुरवस्था में भी एक बड़े कुटुम्ब का दायित्व और अपने बहुमुखी कर्तव्यों का निर्वाह पण्डित जी ने बड़े धैर्य के साथ किया। उस समय वे एक अंग्रेजी विद्यालय में मातृ-भाषा तथा संस्कृत पढ़ाने के लिए नियुक्त थे। लगातार ३० वर्षों तक अध्यापन-कार्य करके उन्होंने अवकाश-ग्रहण किया। उसके बाद भी पण्डित जी अपने जीवन के अन्त तक अन्य विद्या-पीठों में शिक्षा देने का कार्य करते ही रहे। उस समय के बहुत से छात्र, शिक्षक और अधिकारी पण्डित जी के प्रति बड़े श्रद्धा और भक्ति रखते थे तथा हृदय से उनका सम्मान करते थे।

एक बड़े परिवार का बोझ सँभालते हुए, नियमित रूप से अध्यापन-कार्य करने पर भी वे कभी विचलित नहीं हुए। आर्थिक अभाव तो सदा उनका सहचर ही रहा, परन्तु श्रीजगदम्बा की कृपा से वे सदा प्रफुल्ल रहते थे। तीन शताब्दियों से स्थापित तान्त्रिक तथा कौलिक परम्परा के उत्तराधिकारी पण्डित जी ने अपने को सदा उच्च भाव में प्रतिष्ठित रखा।

ब्राह्म मुहूर्त में उठकर वैदिक और तान्त्रिक—दोनों सन्ध्यायें करके वे विद्यालय जाते थे। फिर सन्ध्या-काल से लेकर अर्ध-रात्रि तक भगवती की आराधना में तल्लीन रहते थे। सदा ऐसी ही रही पण्डित जी की नित्य-क्रिया और धारावाहिक उपासना।

संसार में रहकर भी वे निर्लिप्त और निर्विकार होकर देवी की उपासना करते रहे। पहले पहल पिता जी से दीक्षित होकर उन्होंने माँ की उपासना की। बाद में एक अन्य प्रख्यात शव-साधक पण्डित महादेव गुरु जी के द्वारा पूर्णाभिषिक्त होकर वे उच्च कौल-साधना में प्रवृत्त हुए। निरन्तर साधना करते हुए उन्होंने तन्त्र-साहित्य का शोधात्मक अध्ययन भी किया। इतने उच्च कोटि के विद्वान् साधक वे थे किन्तु बहुत कम लोग उन्हें ठीक से जान पाए। पुरानी निःस्पृह ऋषि-परम्परा के अनुरूप आत्म-प्रचार से वे सदैव दूर ही रहे।

तत्कालीन बहुत से जिज्ञासु साधक पण्डित जी के पास आया करते और तन्त्र-चर्चा करके अपने सन्देहों का समाधान पाकर सन्तुष्ट होते थे। वे वस्तुतः एक अद्वितीय साधक थे। लगातार ३५ वर्षों तक उन्होंने देवी की उपासना की, साथ ही तन्त्र-शास्त्र के रहस्यपूर्ण विषयों की गवेषणा भी की।

(शेष पृष्ठ ४ के नीचे)

'कौल-कल्पतरु' चण्डी :: चैत्र-वैशाख : ३

बिहार शाक्त सम्मेलन की दो गोष्ठियाँ

१३ मई, ८६ को बैठक का प्रारम्भ पारम्परिक रूप से गुरु-वन्दना-पूर्वक हुआ। बैठक की अध्यक्षता श्री कृष्णमुरारी तिवारी ने की।

उपस्थित सदस्यों ने सम्मेलन के कार्य-क्षेत्र को व्यापकतर बनाने हेतु अपने विचार प्रस्तुत किये, जिनमें सामूहिक योग-साधना, सम्मेलन के संविधान, ध्वज एवं कार्य-योजना तथा विशिष्ट अवसरों पर विद्वान् साहित्यकारों एवं शाक्त साधकों को आमन्त्रित किये जाने से सम्बद्ध विचार प्रमुख हैं।

बैठक में 'शावर' मन्त्रों पर व्यापक चर्चा हुई। अध्यक्ष महोदय एवं हमारे मान्य संरक्षक श्री शम्भुशरण श्रीवास्तव ने सदस्यों को कई रक्षात्मक शावर मन्त्र प्रयोगार्थ लिखवाए। त्र्यक्षर महा-मृत्यु-ञ्जय मन्त्र की उपादेयता पर प्रकाश डालते हुये पं० कृष्णमुरारी तिवारी ने इसकी संक्षिप्त साधना-विधि का उल्लेख किया।

श्री शम्भुशरण श्रीवास्तव ने अपने उदार उद्बोधन में कहा कि 'आज शावर मन्त्रों का प्रयोग अभिचारों तक सीमित रह गया है, परन्तु यह दुर्भाग्य का विषय है कि समाज आज भी इसके कल्याणकारी उपयोग से वञ्चित है। इन मन्त्रों के सम्बन्ध में कई भ्रान्तियाँ भी फैला दी गई हैं। सच तो यह है कि ये मन्त्र सकाम और निष्काम दोनों ही साधनाओं में अभ्युदय और निःश्रेयस-सिद्धि के विलक्षण उपकरण हैं। अपनी इष्ट-साधना में इनके प्रयोग से विघ्न-बाधाएँ दूर की जा सकती हैं। ये वे विद्याएँ हैं, जो वीर एवं दिव्य साधकों को तो अपने सिद्धि-साम्राज्य की राह दिखा देती हैं परन्तु पशु-साधकों को और भी सम्मोहित कर सांसारिक विडम्बनाओं में उलझा देती हैं। ऐसे लोग, जो इनके प्रयोग का

(पृष्ठ ३ का शेषांश)

पण्डित जी सर्वथा पाश-मुक्त, सिद्ध साधक थे। भगवती काली की कृपा उन्हें मिल चुकी थी। सप्तशती-पाठ जब वे किया करते, तो ऐसा प्रतीत होता, मानों भगवती स्वयं विराजमाना होकर उनके भक्ति-पूर्ण गद्गद कण्ठ-स्वर को सुना करतीं और वे अपने को कृतकृत्य अनुभव करते थे; तन्मयता के साथ भगवती की पूजा कर वे नित्य वन्दनार्थ गायार करते थे। निर्वाण ही उनका एकमात्र लक्ष्य था, तथापि माँ की इच्छा से यदि पुनर्जन्म हो ही जाय, तो उनकी यही कामना रहती थी—

श्रीसुन्दरि ! जन्मनि जन्मनि त्वां जननीं स्मरामि ।

केवल अपने ही लिए पण्डित जी ने जीवन भर साधना नहीं की, अपितु अन्य जिज्ञासु साधकों के लिए निरन्तर शोध-पूर्ण परिश्रम कर वे 'श्यामा-कुल-महोदधि' नामक एक विलक्षण ग्रन्थ भी तैयार कर गये। उड़िया लिपि में इस ग्रन्थ का प्रकाशन भी हो गया है। देवनागरी-लिपि में इसकी पाण्डुलिपि प्रस्तुत कर दी गई है और आशा है कि उसका प्रकाशन निकट भविष्य में हो सकेगा।

पण्डित जी रहे तो गृहस्थ, किन्तु संसार से सर्वथा निर्लिप्त रहते थे। दूसरे शब्दों में पक्के कौलावधूत थे। सांसारिक दुःख-सुख भोगते अवश्य रहे, तथापि मोक्षार्थी और परोपकारी रहकर सबके द्वारा सदा अभिनन्दनीय रहे। वैशाख कृष्ण तृतीया सं० २०२५ तदनुसार १५ अप्रैल, १९६६ को वे माँ आद्या के परम पद को चले गए और उड़ीसा के तन्त्राकाश से एक उज्ज्वल ज्योति लुप्त हो गई।

४ : अप्रैल-मई ८६ : 'कौल-कल्पतरु' चण्डी

चमत्कार सार्वजनिक रूप से करते हैं, यश और सम्पदा की बालुका-भीति खड़ी कर भले ही आत्म-मुग्ध हो लें, अन्ततः वे पतन के ही भागी बनते हैं ।'

सचिव 'वत्स' जी ने 'चण्डी' के वर्ष ४८ की प्रकाशन-शृङ्खला के प्रस्तावित 'शाबर-मन्त्र-संग्रह' नामक अङ्क पर प्रसन्नता व्यक्त की और कहा कि '...चण्डी' के व्यवस्थापकों के सौजन्य से जिज्ञासुओं को शाबर मन्त्रों का आधिकारिक निरूपण और प्रामाणिक मूल प्राप्त हो सकेगा । प्रकाशक निश्चय ही एतदर्थ धन्यवादाह्वं हैं ।'

सर्व-सम्मति से यह निर्णय लिया गया कि सम्मेलन आगामी २० मई, १९८६ को 'कौल-कल्पतरु' पं० श्रीदेवीदत्त शुक्ल की पुण्य-तिथि पर एक समारोह आयोजित कर उन्हें अपनी कृतज्ञ श्रद्धाञ्जलि अर्पित करे । इस अवसर पर नगर के गण्य-मान्य साहित्यकारों एवं साधकों को आमन्त्रित करने का भी निश्चय किया गया ।

४ जून, ८६ को बैठक का शुभारम्भ सचिव 'वत्स' जी ने गुरु-वन्दना एवं 'कौल-कल्पतरु' पं० देवीदत्त शुक्ल, गुप्तावतार बाबा श्री, राष्ट्र-गुरु स्वामी जी, पूज्या माई जी एवं परमहंस स्वामी निश्चलानन्द जी का सश्रद्ध-स्मरण-पूर्वक किया । फिर उन्होंने परमादरणीय पं० जीवेश्वर मिश्र से बैठक की अध्यक्षता का आग्रह किया, जिसका श्री वीरेन्द्र गिरि ने हार्दिक समर्थन किया ।

बैठक के समालोच्य विषय निम्नलिखित थे—

१ सम्मेलन की भावी कार्य-योजनाएँ, २ 'मायेर प्रेमी-मण्डल' के प्रस्तावित मोह-रात्रि-कार्यक्रम (२४ अगस्त से २६ अगस्त, ८६) में सम्मेलन की भूमिका, ३ अध्यक्ष की अनुमति से अन्य विषय ।

अध्यक्ष महोदय ने प्रत्येक सदस्य से सभी विषयों पर विचार माँगे । इन विचारों की पृष्ठ-भूमि पर यह सर्व-सम्मति निर्णय लिया गया कि सम्मेलन की प्रत्येक बैठक का व्यावहारिक पक्ष निम्न-लिखित रूप से रखा जाय—

१ बैठक का शुभारम्भ दीर्घ प्रणवोच्चार से हो (आवृत्ति ३ या ५ हो) ।

२ तत्पश्चात् गुरु-वन्दना का सामूहिक पाठ हो । यह गुरु-वन्दना—'ब्रह्म-स्थान-सरोज-मध्य'.... आदि 'गुरु-अष्टक' से होगी । (द्रष्टव्य—'चक्र-पूजा के स्तोत्र', प्रकाशक—चण्डी कार्यालय)

३ इसके बाद कोई मातृ-वन्दना । मातृ-वन्दना के लिए 'सुधा-धारा स्तोत्र' का चयन किया गया ।

(द्रष्टव्य—'श्रीकाली-स्तव मञ्जरी', प्रकाशक—चण्डी कार्यालय)

४ सामूहिक ध्यानाभ्यास एवं योग-साधना । ५ पूर्व-निर्धारित किसी विषय पर चर्चा, प्रवचन एवं सत्सङ्ग ।

अगली बैठक के लिए निर्धारित विषय हैं—'सुखासन और आसन-दृढ़ीकरण'

सन्दर्भ ग्रन्थ—(क) पातञ्जल-योग-दर्शन, (ख) सविधि कुण्डलिनी-साधना (प्रकाशक—चण्डी-कार्यालय)

'मायेर प्रेमी-मण्डल' के २० वें वर्ष पर आयोजित मोहरात्रि-कार्यक्रम के अवसर पर 'बिहार शाक्त सम्मेलन' का प्रथम अधिवेशन बुलाने का निश्चय किया गया । एतदर्थ यह निर्णय लिया गया कि 'अखिल भारतीय शाक्त सम्मेलन' एवं 'बिहार शाक्त सम्मेलन' के संरक्षकों से पूर्वानुमोदन २१ जुलाई तक प्राप्त कर अधिवेशन की रूपरेखा तय कर ली जाय ।

अपने अध्यक्षीय भाषण में पं० श्री जीवेश्वर मिश्र ने सत्सङ्ग और सामूहिक शक्ति-साधना पर प्रकाश डालते हुये कहा—

"पूर्व-काल में भक्ति-मार्ग के तीन विख्यात आचार्य हुए हैं—१ शाण्डिल्य, २ गर्गाचार्य एवं ३ नारद । शाण्डिल्य ने पूजनोपयोगी वस्तुओं के संग्रह द्वारा भक्ति को प्रबल बनाने की व्यवस्था दी है,

(शेष पृष्ठ ८ पर)

'कौल-कल्पतरु' चण्डी : : चैत्र-वैशाख : ५



बिहार में शक्ति-साधना

पं० वामाचरण मिश्र, सिंहभूम कालेज, चांडिल (बिहार)

बिहार की भूमि में शक्ति-उपासना वैदिक काल से ही नहीं, अपितु आदि-काल से होती आ रही है। इस पावन भूमि में शक्ति के तीन प्रसिद्ध स्थल आज भी अपनी महिमा से धरा को गौरवान्वित कर रहे हैं। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक सहायक पीठ भी यहाँ विद्यमान हैं, जो केवल लोक-मानस से मान्य हैं। उनका पौराणिक आधार ज्ञात नहीं। तीन प्रसिद्ध शक्ति-पीठ, जिनका पौराणिक आधार ज्ञात है, वे हैं—१. सर्व-मङ्गला, २. रज-रप्पा और ३. अम्बिका।

सर्व-मङ्गला-पीठ प्रसिद्ध पितृ-तीर्थ गया में अवस्थित है। यह पीठ गया से बोध-गया जानेवाले राज-मार्ग पर है। इसके सम्बन्ध में यह आलेख है कि यहीं सती का स्तन गिरा था। 'देवी-भागवत' में १०८, 'तन्त्र-चूडामणि' में ५१ और 'त्रिपुरा-रहस्य' में बारह शक्ति-पीठों का उल्लेख है। तीनों में 'गया' का नाम है।
(दृष्टव्य : 'श्रीललिता पीठ, प्रयाग', मूल्य १-०० रु०)

'त्रिपुरा-रहस्य' के अनुसार काश्मीर में 'कामाक्षी', मलय-गिरि पर 'भ्रामरी', केरल में 'कुमारी', गुजरात में 'अम्बा', कर-वीर (कोल्हापुर) में 'महा-लक्ष्मी', उज्जैन में 'कालिका', प्रयाग में 'ललिता', विन्ध्य-गिरि पर 'विन्ध्य-वासिनी', वाराणसी में 'विशालाक्षी', गया में 'मङ्गलावती', बङ्गाल में 'सुन्दरी' और नेपाल में 'गुह्यकेश्वरी'—इन बारह रूपों में पराम्बा भारत में अवस्थित हैं। इन पीठ-स्थानों के दर्शन मात्र से सभी पापों से मुक्ति मिल जाती है।

'सर्व-मङ्गला' शक्ति का प्रधान कार्य है पालन करना। बच्चा माँ से सदैव आहार की अपेक्षा करता है और उससे सम्बन्धित अङ्ग इसी गया-भूमि पर गिरा। अतः पालन करनेवाला 'सर्व-मङ्गला' पीठ है। इस पीठ के निकट ही मार्कण्डेय शिव का स्थान है, जिससे 'सर्व-मङ्गला' की महिमा द्विगुणित हो जाती है। सन्निकट ही चतुर्भुजी काली और छिन्नमस्ता की प्रतिमाएँ भी हैं। प्रवेश-द्वार पूर्व दिशा की ओर है और प्रवेश-द्वार से सटे सिद्धि-दाता गणेश हाथ में मोदक लिए विराजमान हैं। मन्दिर के ऊपर श्री गजाधर भगवान् की विशाल प्रतिमा है।

आश्चर्य-जनक विशेषता इस पीठ-स्थान की यह है कि मनुष्य अपने जीवन-काल में ही अपना श्राद्ध-कर्म यहाँ सम्पादित कर सकता है। जीवित दशा में अपने श्राद्ध-कर्म का विधान और कहीं नहीं मिलता। इस सम्बन्ध में एक घटना का वर्णन करना यहाँ प्रासङ्गिक ही होगा। हमारे एक मित्र थे बड़े सज्जन और सच्चरित्र। प्रबुद्ध विद्वानों से इस स्थान की महिमा सुनकर उन्होंने अपने जीवन-काल में ही मृत्यु-पश्चात् होनेवाले वैदिक कर्म-काण्ड को यहाँ विद्वानों द्वारा सम्पन्न करवाया और परम सन्तुष्ट हुये। पञ्च-पाण्डवों में से महा-बली भीमसेन भी पितृ-ऋण से उद्धार पाने के लिए गया आये थे
६ : अप्रैल-मई : : 'कौल-कल्पतरु' चण्डी

और शास्त्रानुसार पिण्ड-दान किये थे। भीमसेन जब घुटने के बल पिण्ड-दान कर रहे थे, तब पृथ्वी नीचे की ओर धसक गयी थी। वह स्थान आज भी मङ्गला-गौरी के निकट ही दर्शनीय है।

गया में सर्व-मङ्गला के अतिरिक्त अन्य भी शक्ति-स्थल हैं, जिनमें वागेश्वरी, बगला, सङ्कटा आदि प्रसिद्ध हैं। गया की उत्तर दिशा में वागेश्वरी और दक्षिण दिशा में सर्व-मङ्गला विराजमान हैं। यही कारण है कि गया को, तन्त्र के अनुसार, भैरवी-चक्र पर अवस्थिता नगरी माना गया है।

दूसरा प्रधान पीठ है 'रज-रप्पा'। यह पीठ हजारीबाग जिले के गोला नामक स्थान से १४ कि. मी. और रामगढ़ से ३१ कि. मी. की दूरी पर अवस्थित है। 'रज-रप्पा' में छिन्नमस्ता की प्रतिमा है। दस महा-विद्याओं में छिन्नमस्ता और बगलामुखी विशेष उग्र और शीघ्र फल देनेवाली प्रख्यात हैं। भगवती बगला अपने शत्रु को जिह्वा और छिन्नमस्ता अपना कटा सिर अपने हाथ में पकड़े हैं। सिर-बिहीन गले से रक्त की तीन धाराएँ निकली हैं, एक धार स्वयं छिन्नमस्ता के कटे सिर के मुख में और दो धाराएँ बगल में खड़ी दो योगिनियों के मुख में गिर रही हैं। प्रश्न उठता है कि रक्त की तीन धाराएँ क्यों निकलीं? इस प्रश्न का उत्तर निम्न कथाओं के माध्यम से समझा जा सकता है—

दक्ष प्रजापति ने यज्ञ किया। उस यज्ञ में सभी देवताओं को सादर आमन्त्रित किया गया लेकिन देवाधि-देव महादेव को नहीं बुलाया गया। शङ्कर की बात को टालकर सती पिता के यज्ञ में जाने को उद्यत हुई और उनसे बोलीं कि "आप केवल संहार करनेवाले हैं किन्तु मैं सृष्टि, स्थिति और संहार—तीनों की नियामिका हूँ।" यह कहकर उन्होंने अपना सिर काटकर छिन्नमस्ता-स्वरूप प्रकट किया। रक्त की जो तीन धाराएँ निकलीं, वे वास्तव में सृष्टि, स्थिति और प्रलय की द्योतक हैं।

'नारद-पाञ्चरात्र' के अनुसार पार्वती अपनी दो सखियों—डाकिनी और वर्णिनी—के साथ मन्दाकिनी में स्नान करने गईं। स्नान के बाद क्षुधातुर हो सखियों ने पार्वती से भोजन की याचना की। आक्रोश में देवी पार्वती ने कहा—“हमें खा लो!” सखियों ने कहा—“तुम जगत् की जननी हो। शिशु जननी से ही याचना करता है। इसीलिए हे करुणा-मयि! आपसे हमने याचना की।” माँ ने कृपा की और अपना सिर काट कर रक्त की धाराएँ प्रवाहित कर दीं। दोनों सखियाँ तृप्त हो गईं। सिर कटने से पार्वती 'छिन्नमस्ता' नाम से प्रसिद्ध हुई।

'रज-रप्पा' की छिन्नमस्ता की प्रतिमा १५' लम्बी और ७" चौड़ी है। चार भुजाएँ हैं। बाँयीं भुजा में कटा हुआ सिर, दूसरी भुजा में प्याला। दाहिनी भुजा में गोलाकार वस्तु और दूसरे में तलवार है। देवी के दोनों ओर एक-एक नारी-मूर्ति है। इन दोनों के दाहिने हाथ में तलवार और बाँयें हाथ में प्याला है। इन्हें 'डाकिनी' और 'वर्णिनी' कहते हैं।

रज-रप्पा की छिन्नमस्ता हिन्दुओं, सन्थालों और आदि-वासियों के द्वारा समान रूप से सम्पूजिता हैं। आदि-वासी इस पवित्र स्थान को अपना पुण्य-धाम समझते हैं और गया की तरह यहीं पर अपने पितरों को पिण्ड-दान करते हैं। यह पवित्र स्थान दामोदर नद और भैरवी नदी के सङ्गम पर स्थित है। प्रकृति की विचित्र लीला यहाँ देखने को मिलती है। नद के ऊपर नदी का विलास अपने आप में रहस्य-पूर्ण है। दामोदर नद के ऊपर भैरवी नदी की क्रीड़ा देखते ही बनती है। तन्त्र-शास्त्र में विपरीत रति का विशेष महत्त्व है। उसी का अपूर्व प्रकृत दृश्य यहाँ दृष्टि-गत होता है, जो अन्यत्र दुर्लभ है।

रज-रप्पा मन्दिर के निर्माण के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि इसका निर्माण राजा सुरथ ने करवाया। कुछ लोगों का मत है कि राजा सुरथ की तपः-स्थली यहीं थी। यह स्थान वास्तव में 'राज-

'कौल-कल्पतरु' चण्डी :: चैत्र-वैशाख : ७

तपा' कहा जाता था, जिसका अपभ्रंश आज 'राज-रप्पा' के रूप में हमारे सामने है। यदि यह मत सत्य है, तो सुमेधा ऋषि का आश्रम भी यहीं रहा होगा। आश्रम के सभी लक्षण इस पुण्य भूमि में विद्यमान हैं। पुरा-तात्त्विक परीक्षणों से सिद्ध है कि यह मन्दिर साठ हजार वर्ष प्राचीन है।

तीसरा प्रसिद्ध शक्ति-पीठ है—'अम्बिका'। सप्तशती के "कृत्वा मूर्तिं मही-मयीम्" पाठ के अनुसार राजा सुरथ और समाधि वैश्य दोनों ने भगवती की मिट्टी की प्रतिमा बनाई और इसी स्थल पर उपासना की। उपासना-क्रम में पहले उन्होंने आहार कम किया और तत्पश्चात् निराहार रहकर तन-मन से साधना की। वे दोनों अपनी प्रिय-से-प्रिय वस्तु भी माँ के चरणों में अर्पित करने के लिए प्रस्तुत थे। यहाँ तक कि अपने शरीर से रक्त भी उन्होंने अर्पित किया। उनके अपूर्व त्याग से प्रसन्न होकर जगदम्बा ने उन्हें अभीष्ट वर प्रदान किये—राजा सुरथ को राज्य की और वैश्य समाधि को ज्ञान और मोक्ष की प्राप्ति हुई।

'अम्बिका'—पीठ के सम्बन्ध में लोगों का यह भी कहना है कि यहीं पर दक्ष प्रजापति ने यज्ञ किया था और उसी यज्ञ-स्थल पर वर्तमान प्रतिमा प्रतिष्ठित है। प्रतिमा के बगल में 'सिद्ध-कामना-छिद्र' है, जिसके सम्बन्ध में भक्तों का कहना है कि अपने मन में किसी प्रकार की कामना रखकर छिद्र में हाथ डालने से अक्षत, विल्व-पत्र आदि कोई वस्तु मिले, तो समझना चाहिए कि मनोरथ सिद्ध होगा और यदि कोई वस्तु न मिले, तो सिद्धि में सन्देह रहता है।

माँ की प्रतिमा आज भी मिट्टी की ही है, जिस पर हजारों श्रद्धालु भक्त नित्य जल अर्पण करते हैं, लेकिन प्रतिमा पर इस जल का तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता। ऐसी अद्भुत महिमा-मयी माँ हैं, जहाँ नित्य हजारों दुःखी-जन अपनी आर्त-वाणी में माँ से प्रार्थना करते हैं और उनका अभीष्ट पूर्ण होता है।

बिहार-प्रदेश के अन्तर्गत और भी अनेक शाक्त-पीठ हैं। इन सबको देखने से यही प्रमाणित होता है कि शक्ति की उपासना केवल दो, चार, दस हजार वर्षों से नहीं, अपितु प्राक् - वैदिक काल से बिहार-प्रदेश में होती आ रही है।

इस सम्बन्ध में 'शाक्त-साधना-पीठ', चण्डी-कार्यालय द्वारा प्रकाशित शोधात्मक कृति 'बिहार में शक्ति-साधना' से प्रामाणिक ज्ञान उपलब्ध होता है और उस ज्ञान की अधिकाधिक पुष्टि होती है।

(पृष्ठ ५ का शेषांश)

गर्गाचार्य ने सतत इष्ट-स्मरण द्वारा भक्ति को तीव्र बनाने पर जोर दिया है। महा-मुनि नारद ने यत्र-तत्र घूम-घूम कर मिलने की इच्छा और सत्सङ्ग द्वारा भक्ति को प्रबल बनाने का मार्ग निश्चित किया है। अतएव सत्सङ्ग भी एक भक्ति-साधना ही है। सर्व-समर्पण की अवस्था में "यद्यत् कर्म करोमि, तत्तदखिलं शम्भो ! तवाराधनम्" का भाव सत्सङ्ग को भी आराधना का ही स्वरूप प्रदान करता है।

पुनश्च सत्सङ्ग में सामूहिक मत-चिन्तन से जो भी प्राप्त होता है, वह हमारी अभिरुचि को बलवती बनाता है। सत्सङ्ग में मौन-श्रवण से भी अभीष्ट-प्राप्ति हो जाती है। साथ ही ध्येय को यदि साकार करना है, तो सम्पर्क आवश्यक है, जो आत्म-शक्ति को सुदृढ़ बनाता है।"

'मायेर प्रेमी-मण्डल' की स्मारिका हेतु निबन्धादि-सङ्कलन का दायित्व श्री विजय वत्स को सौंपा गया। धन्यवाद-ज्ञापन-पूर्वक बैठक समाप्त की गई। सम्मेलन की आगामी बैठक ८ जुलाई १९८६ को सन्ध्या ५ बजे बुलाने का निश्चय किया गया।

८ : अप्रैल-मई : : 'कौल-कल्पतरु' चण्डी



‘कौल-कल्पतरु’ पं० देवीदत्त शुक्ल जी की पुण्य स्मृति में

‘कौल-कल्पतरु’ चण्डी

वर्ष ४८ :: चैत्र-वैशाख सं० २०४६ वि० ‘चित्र-भानु’-अप्रैल-मई १९८६ :: संख्या १-२

श्री गुरु-नत्त्व-दर्शन

मानद सम्पादक

‘कुल-भूषण’ पं० रमादत्त शुक्ल, एम० ए०

सम्पादक

ऋतशील शर्मा, एम० ए०

प्रकाशक

पं० देवीदत्त शुक्ल स्मारक

शाक्त साधना पीठ

प्रयाग-६

अ-नु-क्र-म

वन्दे गुरु-पाद-द्वन्द्वमवाङ्-मनस-गोचरम् ।

रक्त-शुक्ल-प्रभा-मिश्रमतर्क्यं त्रैपुरं महः ।

अनुत्तर-महा-संवित्-स्रोतः स्वच्छन्द-चारिणे ।

निज-नाथानन्द-नाथ-शिवाय गुरवे नमः ॥

१ श्रीगुरु-चरण-रहस्य	३
२ श्रीगुरु-तत्त्व की श्रेष्ठता	६
३ 'गुरु' शब्द की व्याख्या	७
४ गुरु की महिमा	८
५ गुरु-करण अर्थात् चैतन्य प्राणी में परमात्मा की अनुभूति	६
६ श्रीगुरु-माहात्म्य	१४
७ श्री श्रीगुरु-तत्त्व (कहानी)	१५
८ 'गुरु' का अर्थ एवं माहात्म्य-निदर्शन	१७
९ श्रीगुरु-तत्त्व-रहस्य (संग्रहीत)	२४
१० अव्यक्त अविनाशी—'श्रीगुरु-तत्त्व'	२५
११ श्रीपादुका-ध्यान	२७
१२ देवता, गुरु और मन्त्र की एकता का ज्ञान	२८
१३ गुरु-तत्त्व-चिन्तन	२६
१४ गुरु की परीक्षा	३१
१५ गुरु का साक्षात्कार	३३
१६ गुरु-गरिमा (सङ्कलित)	३५
१७ सर्व-साधनों की कुंजी—गुरु-सेवा	३६
१८ गुरु, ज्ञान-गरिमा और शक्ति	३७
१९ गुरु की श्रेष्ठता	४०



श्रीगुरु-चरण-रहस्य

(गुप्तावतार बाबाश्री के प्रवचनों के आधार पर)

श्री गुरु-चरणों की आवश्यकता

इन्द्रियाँ प्रत्येक मनुष्य को प्रति-क्षण बाह्य पदार्थों से परिचय कराती रहती हैं। परिचय की प्रतिक्रिया-स्वरूप—‘स्व-क्रिया’ का जन्म होता है। फिर इन दोनों के गाँठ-स्वरूप ‘अनुभव’ की प्राप्ति होती है। अनुभव की प्राप्ति ही—‘वास्तविक जीवन’ बनता है। जो मनुष्य जितना अधिक अनुभव करता है, वह उतनी ही मात्रा में अधिक यशस्वी जीवन जीता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अनुभव-रूपी अग्नि में मनुष्य योग्य रूप में परिणत होता है और विकसित भी होता है।

इन्द्रियों द्वारा बाह्य पदार्थों का परिचय कराना, पुनः प्रतिक्रिया-स्वरूप स्व-क्रिया का जन्म होना—ये सब अपने-आप में स्वतन्त्र क्रियाएँ हैं। इन क्रियाओं में प्रकृति हस्तक्षेप नहीं करती। प्रकृति तो क्रिया-मयी है—वह क्रिया का शुद्ध स्पन्द मात्र है और उसके द्वारा प्रत्येक क्रिया संरक्षित होती है।

अतः इन्द्रियों द्वारा बाह्यत्व को ग्रहण करना एवं प्रतिक्रिया-स्वरूप स्व-क्रिया का जन्म होना, एक-मात्र मानव के अस्तित्व (मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार) रूपी पात्र पर निर्भर करता है। वही प्रत्येक क्रिया का निमित्त है एवं उसे ही प्रत्येक क्रिया का दायित्व भी वहन करना पड़ता है।

मानव के अस्तित्व-रूपी पात्र की सबसे सुन्दर विशेषता यही है कि इस पात्र में उज्ज्वल क्रियाओं के बीज मानव स्वयं वो सकता है। दूसरे शब्दों में अपने पात्रत्व का अधिकाधिक विकास मानव स्वयं कर सकता है।

मानव-रूपी पात्र की उक्त महत्त्व-पूर्ण विशेषता को सम्पूर्ण रूप में सबसे पहले हमारे ही यहाँ पहचाना गया और तभी मानव-रूपी पात्र को पूर्णत्व की ओर—अखिलत्व की ओर ले जाने के उद्देश्य से हमारे पूर्वजों द्वारा ‘गुरु-तत्त्व’, विश्व-बुद्धि मन-रूपी ‘श्रीगुरु-चरण’ एवं ‘गुरु-मण्डल’ की खोज हुई।

श्रीगुरु-चरणों का महत्त्व

श्रीगुरु-चरण-जनन के पीछे हमारे पूर्वजों का उद्देश्य यही रहा कि इनके द्वारा मानव-रूपी पात्र में उज्ज्वल-से-उज्ज्वल क्रियाओं के बीज, सहज रूप में बोये जा सकेंगे, पोषित हो सकेंगे।

मानव-रूपी पात्र की पूर्णता-प्राप्ति में, श्रीगुरु-चरणों की अद्वितीय भूमिका को देखते हुए, हमारे धर्म-शास्त्रों ने 'गुरु' को साक्षात् 'ब्रह्मा-विष्णु-शिव'-स्वरूप बताया है और सर्व-प्रथम गुरु-पूजा, गुरु-आदेश की पूर्ति का उपदेश किया है।

गुप्तावतार बाबाश्री की प्रस्तुत 'श्रीगुरु-चरण-क्रिया' रचना द्वारा, मानव-रूपी पात्र की पूर्णता-प्राप्ति में श्रीगुरु-चरणों की भूमिका पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है, देखिये—

श्रीगुरु-चरण-क्रिया

अक्रिय - क्रिय - करन्तीं इन्द्रियान् योजयन्तीम्,
साहसान् वर्धयन्तीं रचनान् पोषयन्तीम् ।
परिश्रमं जीवयन्तीं शक्तिं संरक्षयन्तीम्,
उपकरणं काशयन्तीं हृत् विपाशयन्तीम् ।
स्थितिमुद्धारयन्तीं नवाविष्कारयन्तीम्,
चरण-गत-पुष्पान् कृपया संकलन्तीम् ।
भैरवीं प्रेरयन्तीं ऋतं साक्षात्-करन्तीम्,
लये परिणमन्तीं सप्तकान् तारयन्तीम् ।

श्रीगुरु-चरणों द्वारा मानव-अस्तित्व का कल्प—नवीनीकरण

वास्तव में, जिस प्रकार आयुर्वेदादि शास्त्रों में मानव-काया का कल्प (नवीनीकरण) करने के लिये कल्प-कारिणी औषधियों का वर्णन हुआ है, ठीक उसी प्रकार केवल काया का ही नहीं, अपितु समग्र मानव-अस्तित्व का कल्प अथवा नवीनीकरण करने के लिये, चित्-क्रिया के साक्षात्कार हेतु अध्यात्म-पथ में श्रीगुरु-चरणों का विधान किया गया है।

इसीलिये आध्यात्मिक पथ में—कितने समय में, कितने परिश्रम से, कितने दबाव (आपत्तियों) में, कितने पाशों (आवरण) को काटकर श्रीगुरु-चरणों का क्या अनुभव—किसने सेवा-भावना द्वारा कितना किया, इसी पर आध्यात्मिक जीवन की सार्थकता को निर्भर बताया गया है।

श्रीगुरु-चरणों का साक्षात्कार

ध्येय-रूप श्रीगुरु-चरणों का साक्षात्कार 'चरण-संलग्नता' से होता है। सच पूछिये, तो 'कुछ करना है'—इस वृत्ति में फलत्व छिपा है और 'कुछ नहीं करना है'—इस वृत्ति में विफलत्व। उज्ज्वल जीवन की प्राप्ति के लिये, इन दोनों वृत्तियों का त्याग आवश्यक है

और इसके लिये प्रत्येक क्रिया द्वारा गुरु-आदेश की पूर्ति अथवा 'चरण-संलग्नता' अत्यन्त आवश्यक है ।

गुरु-आदेश में से अपने जीवन के कर्तव्य को प्राप्त कर, उसे यदि पूरी सच्चाई व परिश्रम के साथ क्रिया में परिणत किया जाय, तो ध्येय-रूप गुरु-चरणों का साक्षात्कार होगा । तब क्रिया का फल हो या न हो, इसकी परवा नहीं रह जायगी । अपना कर्तव्य भार-रूप प्रतीत न होगा अपितु कर्तव्य में अपने अन्दर की कोई वस्तु व्यक्त होती हुई प्रतीत होगी एवं कर्तव्य-भावना अधिक शक्ति-मती हो जायेगी । यही जीवन का ऊर्ध्व-प्रवाह है, जो श्रीगुरु-चरणों के साक्षात्कार से ही सम्भव है ।

श्रीगुरु-चरणों से कर्तव्य-रूपी ऊर्ध्व जीवन-धारणा उत्पन्न कर, ऊपर की ओर बहना—यही मानव जीवन का परम लक्ष्य है ।

गुरु-आदेश की पूर्ति और जीवन का सच्चा स्वाद

भोजन का सच्चा स्वाद जीभ से नहीं मिलता, अपितु वह जब पच कर शरीर में स्फूर्ति उत्पन्न करता है, तब उस स्फूर्ति से मिलता है । ठीक ऐसे ही 'जीवन का स्वाद'—इन्द्रियों द्वारा प्रति-क्षण नवीन बाह्य पदार्थों का परिचय प्राप्त करने एवं उसकी प्रतिक्रिया में नहीं है ।

जीवन का सच्चा स्वाद—अपने से श्रेष्ठ बुद्धि-मन-रूपी गुरु-आदेश की पूर्ति में है । उसके लिये १. सभी प्रकार की प्रतिकूलताओं से संघर्ष, २. इच्छित क्रिया का उत्पादन और ३. क्रिया को अधूरा न छोड़ उसे पूरा करते हुये रहस्य-दर्शन में ही निहित है । इसीलिए कहा गया है कि श्रीगुरु-चरणों में से बहता हुआ प्रवाह १. उज्ज्वल है, २. काश-मय है, ३. तम (जड़त्व)-भक्षी है, ४. वृद्धि-रूप से फैलनेवाला है, ५. स्फूर्ति-प्रद है, ६. स्वावलम्बन देता है, ७. भाव-मय है, ८. शक्ति-मय है, ९. उपयोग-मय है और १०. कल्याण-कर है ।

इस प्रकार यहाँ पृथ्वी पर जीवन का श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ स्वरूप श्रीगुरु-चरण-प्रवाह में से ही उतरता है और उसके बिना जीवन का सच्चा स्वाद समझ में नहीं आता । अतएव अपने में जीते-जागते, चलते-चलाते श्रीगुरु-चरण-तत्त्व की जाग्रति करना ही हम जीवों का एक-मात्र ध्येय होना चाहिये ।

राष्ट्र-गुरु परम पूज्य श्रीस्वामी जी के उपदेशों के आधार पर

श्रीगुरु-तत्त्व की श्रेष्ठता

‘गुरु’ वास्तव में ईश्वर-तत्त्व का ही स्वरूप है। महर्षि पतञ्जलि ने ‘योग-दर्शन’ में बताया है कि—‘स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्’ अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, शिवादि पूर्व के ईश्वर-स्वरूपों का भी वह परमात्मा गुरु-रूप से उपादेय है। काल से भी जिसका परिच्छेद नहीं होता, क्योंकि वह कालातीत है।

उपनिषदों में भी ‘गुरु-तत्त्व’ की श्रेष्ठता बताई गई है कि—जिसकी ईश्वर और गुरु-तत्त्व में समान भक्ति होती है, उसी को वेदान्त में प्रतिपादित अर्थों का बोध होता है।

साधना-शास्त्र में नाद, बिन्दु से युक्त कला-तत्त्व में जब शब्द-तत्त्व से विकसित ज्ञान-शक्ति का सम्बन्ध होता है, तभी गुरु-तत्त्व का स्वरूप व्यक्त होता है।

गुरु के स्मरण-पूजन, ध्यानादि से ही साधक पूर्णता लाभ करता है। साधना की सिद्धि गुरु-तत्त्व पर ही निर्भर है। छान्दोग्य उपनिषद् में गुरु-भक्ति की एक कथा इस प्रकार दी गई है—

एक बार गुरु श्री गौतम ऋषि के पास अध्ययन की इच्छा से सत्यकाम जाबाल गए। आचार्य ने उन्हें आज्ञा दी कि—‘आश्रम में चार सौ गायें हैं, इन्हें चराने के लिए जङ्गल में ले जाओ। जब तक इनकी संख्या एक हजार न हो, तब तक लौटकर न आना।’

गौवों की एक हजार संख्या होने में कई वर्ष लग गए, तब भी सत्यकाम अपने कर्तव्य को करने से किञ्चित् भी विचलित नहीं हुए। गौवों की एक सहस्र संख्या हो जाने पर देवताओं ने आकर कहा कि—‘हे सत्यकाम ! तुम्हारी गुरु-भक्ति से हम सब प्रसन्न हुये हैं। उससे प्रेरित होकर तुम्हारा अभिलषित ब्रह्म-विद्या का रहस्य हम सब तुमको बताते हैं। अब तुम गौओं को लेकर अपने गुरु के पास जा सकते हो।’

देवताओं की अनुमति से सत्यकाम गौवों को लेकर गुरु-आश्रम गए। गुरु के चरणों को प्रणाम करके सत्यकाम जब उनके समीप बैठे, तब गुरु उनकी आकृति देखकर पूछने लगे कि—‘हे सत्यकाम ! मालूम होता है कि तुम्हें ब्रह्म-विद्या प्राप्त हो गई है।’

इसे सुनकर सत्यकाम ने कहा—‘भगवन् ! हमें देवताओं द्वारा रहस्य की प्राप्ति हुई है तथापि जब तक आप ब्रह्मोपदेश नहीं करते, तब तक इसे मैं सफल नहीं समझता।’

यह सुनकर प्रसन्न-चेता गुरु ने उसकी अपूर्व भक्ति से तुष्ट होकर एक ही दिन में उसे ब्रह्म-विद्या का रहस्य बता दिया।

‘गुरु’ शब्द की व्याख्या

‘गुरु’ शब्द की व्याख्या भगवान् भाष्यकार श्रीमज्जगद्गुरु शङ्कराचार्य ने ‘सर्व-वेदान्त-सिद्धान्त-सार-संग्रह’ में इस प्रकार की है—

अविद्या - हृदय - ग्रन्थि - बन्ध-मोक्षो यतो भवेत् ।

तमेव गुरुरित्याहुर्गुरु - शब्देन योगिनः ॥

अर्थात् बन्धन के मुख्य हेतु अविद्या-रूपी हृदय-ग्रन्थि के भेदन करने में समर्थ व्यक्ति ही ‘गुरु’ पद-वाच्य होता है ।

दूसरे ढङ्ग से इसकी व्याख्या यों भी की जा सकती है—

गृणाति, उपदिशति धर्ममिति गुरुः, गिरति ज्ञानमिति गुरुः ।

यद्वा गीयते स्तूयते देव - गन्धर्वादिभिरिति गुरुः ॥

अर्थात् धर्म का जो उपदेश दें, ज्ञान-रूपी ज्योति से जो प्रकाश करें, देव-गन्धर्वादि से जो स्तुत हों, उन्हीं साक्षात् देव की संज्ञा ‘गुरु’ है ।

** ** **

ब्रह्म-लीन स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती ने ‘गुरु’ शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है—

मूलावृत्तिर्गकारस्य ‘र’-कारो मूर्द्धनि स्थितः,

ओष्ठ-द्वयेन सम्पाद्य मूर्द्धाधः शक्ति-मेलनम् ॥

‘ग’-कारो मूलमाकृष्य सहस्रार-रसं रतः ।

हृदयं पाययेत् स्फूर्तं श्रीमद्-गुरुदेत्युतः ॥

अर्थात्—‘ग’-कार जिह्वा-मूल में होने के कारण मूलावृत्ति (मूलाधार में जाग्रति) की सूचना देता है । ‘र’-कार ऊर्ध्वावृत्ति (ऊर्ध्वावस्थित केन्द्र-समूह) का सूचक है । ओष्ठ-द्वय दोनों ‘उ’-कार ऊर्ध्व और मूल शक्तियों का सम्मिलन कराते हैं ।

श्रीगुरु-देव ‘उ’-कार द्वय के द्वारा उज्ज्वल स्वरूप में उदित होते हैं । ‘ग’-कार से मूलाधार में निद्रिता कुण्डलिनी-शक्ति का आकर्षण करके, ‘र’-कार द्वारा सहस्रार के सुधा-रस का दोहन करते हैं, जिससे प्रस्फुटित हृदय उस रस का भरपूर पान कर सके ।

अतएव ‘श्रीगुरु’-शब्द का उच्चारण कर रस-हीन हृदय को ऊर्ध्व-धाम के सुधा-रस का पान कराओ ।

‘श्रीगुरु-शक्ति’ समस्त बहिर्मुखी वृत्तियों को अन्तर्मुखी करके शिष्य को धीर बना देती है, जिससे वह बाहर के विषयों से ढँकी हुई आँखवाला होकर अन्तरात्मा का दर्शन करने में समर्थ होता है एवं वह अमृत-तत्त्व का लाभ कर सकता है ।

बाहर बहु दिशाओं में प्रसारित, बहु-विषयों में प्रधावित, शक्ति-निचय की संग्रह-शक्ति के दाता श्रीगुरु अन्तर्मुखी कर देते हैं । दुर्दशा-ग्रस्त विपन्न जीव को शिष्य-रूप में अंगीकार करते ही वे उसे परम प्रसन्न, ब्रह्मानन्द के अनुभव-योग्य बना देते हैं—यही उनकी प्रतिग्रह-शक्ति की महिमा है ।

शिव के मस्तक से माँ गङ्गा का प्रादुर्भाव हुआ, किन्तु शिव की प्रकट-मूर्ति श्रीगुरु के श्रीचरण से ही गङ्गा का उद्भव होता है । हर-जटा-जाल से एक ही गङ्गा की उत्पत्ति है, यहाँ साक्षात् शङ्कर-मूर्ति श्रीगुरु के श्री-पाद-पद्म से पञ्च-गङ्गा का आविर्भाव हुआ है । संग्रह, प्रतिग्रह, निग्रह, परिग्रह और अनुग्रह—यह पञ्च-शक्ति-रूपा पञ्च-गङ्गा है । श्रीगुरु की यह शक्ति-धारा परम-पावनी मन्दाकिनी-धारा के समान ही जीव को शुद्ध करनेवाली है ।

गुरु की महिमा

(‘कौल-कल्पतरु’ पण्डित देवीदत्त शुक्ल)

बहु वेद पुरान पढ़े व गुने, पर भेद कहूँ तिनको नहिँ पायो ।
यह विश्व विशाल विलोकि थक्यो, नहिँ हाथ लगे सब काल गँवायो ॥
तब भेंट भई सहसा गुरु ते, भरि पात्र गहाय सुपात्र बनायो ।
कछु आँख खुली कछु बोध भयो, कछु मोद बढ़ो हियरा हरखायो ॥
मारग दीन बताय हमें गुरु, ताहि निगाह तरे करि राखौ ।
ध्यान धरौ सुठि मञ्जुल मूरति, मन्त्र जपौ गिनती गिनि लाखौ ॥
साथ करौ घर के सब कारज, भोग-विलास नहीं अभिलाखौ ।
या विधि ते निज धर्म निबाहत, साँच कहौ सच झूठ न भाखौ ॥
गुरुदेव दयाल उदार अपार, बताय रहस्य दया दिखराई ।
अति पावन तत्त्व मिलो भरि भाव, बिना श्रम के घर आपुहि आई ॥
हिय केरि खुलो तब बन्द किवार, प्रकाश दिखो बगरो चहुँधरि ।
मन बुद्धि गही थिरता अवलोकि, विकार मलीन सबै दुरियाई ॥

गुरु-करण

अर्थात्

चैतन्य प्राणी में परमात्मा की प्रत्यक्ष अनुभूति

(‘चण्डी’ वर्ष २० में प्रकाशित निबन्ध श्री श्रीगुरु-तत्त्व’ के आधार पर)

अस्थिर मन को स्थिर करने के निमित्त ‘आधार’ की आवश्यकता

किसी हिलती हुई वस्तु को स्थिर करने के प्रयास का नाम ‘साधना’ है। हिलते हुये मन को ‘साध लेना’ अर्थात् स्थिर कर लेना ही आध्यात्मिक साधना का चरम लक्ष्य है, किन्तु कोई भी हिलता हुआ अस्तित्व बिना ‘आधार’ के स्थिर नहीं किया जा सकता। इसी न्याय से हिलते हुये (अस्थिर) मन को स्थिर करने के निमित्त भी ‘आधार’ की अनिवार्य आवश्यकता है।

मन को स्थिर करने का आशय है किसी वस्तु-विशेष पर उसे केन्द्रित करना। केन्द्रीकरण इतना पूर्ण होना आवश्यक है कि देहाध्यास भी विगत हो जाये।

मन की पहुँच ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त अनुभूतियों एवं बुद्धि द्वारा की गई कल्पनाओं से परे नहीं है। अतः स्वाभाविक है कि उसके (स्थिर करने को) आधार की व्यवस्था इन्हीं में से सम्भव है। इन्द्रिय-जन्य ज्ञान से परे बुद्धि की कल्पना भी नहीं जा पाती और इन्द्रिय-जन्य ज्ञान लौकिक ज्ञान ही है—अलौकिक नहीं।

पाँच ज्ञानेन्द्रियों के पाँच ही विषय हैं—रूप, रस, शब्द, स्पर्श और गंध। इन्हीं की सहायता से मन के स्थैर्य के निमित्त ‘आधार’ की बुद्धि-पूर्वक कल्पना सम्भव है। इनके अभाव में ‘आधार’ का अभाव होने से मन का स्थैर्य आकाश-कुसुम ही है।

सुख एवं शान्ति का प्रतीक ‘परमात्म-तत्त्व’—अस्थिर मन का वास्तविक आधार

उत्पत्ति, स्थिति एवं विनाश की शक्ति से सम्पन्न, दुःख, चिन्ता एवं उद्वेगादि से सर्वथा रहित, सुख एवं शान्ति का चिर समुद्र, सम्पूर्ण सद्गुणों का आकर—ऐसे अस्तित्व की कल्पना ‘परमात्म-तत्त्व’ ही के निमित्त है। इस प्रकार के अस्तित्व की स्थिति है—ऐसा इस बल पर कहा जा सकता है कि मन को इस अस्तित्व - विन्दु पर केन्द्रित करने से उसे प्राप्त किया जा सकता है।

देहाध्यास का विस्मरण होकर जिस केन्द्र पर भी मन एकाकार हो जाता है, वही अस्तित्व में आ जाता है—यह मनोविज्ञान का उच्च-तम रहस्य है। अतः मन को

उपरि-कथित विशेषणों से युक्त अस्तित्व पर क्यों न केन्द्रित किया जाय, जिससे सर्व-शक्ति-मत्ता एवं चिर-शान्ति की उपलब्धि होकर अभाव आदि शून्य हो जाएँ ?

‘परमात्म-तत्त्व’ के रङ्ग, रूप, आकृति की कल्पना की आवश्यकता

उक्त विशेषणों से युक्त दिव्य अस्तित्व—दूसरे शब्दों में ‘परमात्म-तत्त्व’ पर मन को केन्द्रित करने के लिये यह आवश्यक है कि—उक्त अस्तित्व को मन-बुद्धि-गम्य ज्ञानेन्द्रियों की विषय-परिधि में लाना होगा—अन्यथा मन के लिये केन्द्रीकरण का वह आधार ही कैसे बन पायेगा ?

तब ‘परमात्म-तत्त्व’ के रङ्ग, रूप, आकृति की कल्पना करनी होगी। शब्दों की परिधि में उसे बाँधना होगा। स्पर्श की अनुभूति में, सुस्वादु रस के रसास्वादन में, गंध की लपट में उस अस्तित्व की अनुभूति करनी होगी। यही तो एक-मात्र मार्ग है।

ध्यान, मन्त्र, जप, हवन, स्तोत्र—पाठादि रूपी भारत की आध्यात्मिक साधना का लक्ष्य

कुछ साधक केवल दृग् - विषय—‘रूप’ का ही आश्रय ग्रहण करते हैं। उसकी निर्धारित आकृति का ‘ध्यान’ मात्र उनकी साधना है। कुछ साथ में ‘शब्द’ का सहारा भी ग्रहण करते हैं—वे ‘ध्यान’ एवं ‘मन्त्र-जप’ तथा ‘स्तोत्र-पाठादि’ के द्वारा, मन को उस चिदा-नन्द अस्तित्व पर केन्द्रित करने को प्रयत्नशील हैं। कुछ ‘हवनादि’ के आश्रय से गंध को भी आश्रय बनाते हैं एवं थोड़े साधक पाँचों ही इन्द्रियों—नहीं—पाँच कर्मेन्द्रियों के विषयों को भी एक साथ उसी अस्तित्व की ओर मोड़ देते हैं। मन को, उस अस्तित्व को छोड़ कर, इधर-उधर हिलने को अवकाश ही नहीं मिल पाता। उसे विवश होकर उसी अस्तित्व पर केन्द्रित होना ही पड़ता है—यह है भारत की आध्यात्मिक साधना। अस्तु,

मतङ्ग-रूपी मन को बाँधने के लिए क्रम-बद्ध साधना की आवश्यकता

किसी भी लक्ष्य की पूर्णता क्रम पर आश्रित है। क्रम-बद्ध साधना ही लक्ष्य-प्राप्ति का एक-मात्र मार्ग है। क्रम-हीन क्रिया एक उन्मत्त क्रिया को छोड़ कर और कुछ नहीं—जिसका परिणाम शून्य ही नहीं, कई क्षेत्रों में अहितकर भी हो जाया करता है। सम्पूर्ण इन्द्रिय-जन्य विषयों की सम्पूर्ण अनुभूतियों में उस परम तत्त्व का साक्षात्कार कर पाना हँसी-खेल नहीं। उसके लिये क्रम-बद्ध अभ्यास करना होता है। तभी ‘मन-मतङ्ग’ के पैरों में शृङ्खला पड़ पाती है।

क्रम-बद्ध साधना हेतु मूर्ति अथवा प्रतीक की आवश्यकता

पञ्च ज्ञानेन्द्रियों के विषयों में शब्द एवं रूप दो विषय ही ऐसे हैं, जिनको आधार बना कर पर-तत्त्व पर सर्व-प्रथम मन को केन्द्रित किया जा सके। इसीलिए उस अरूप,

अनाम तत्त्व की सर्व-प्रथम नाम-रूप की कल्पना हुई । इस विशिष्ट नाम-रूप में मन को केन्द्रीभूत करना होता है ।

नाम—अर्थात् शब्द को आधार बना कर मन का एकाग्रीकरण सफल अवश्य होता है, पर विलम्ब होता है । मन्त्र-विशेष का जप करते हुये 'मनीराम जी' अपनी 'तफरी' एकदम स्थगित नहीं करते । जप का काम वाणी को एवं संख्या का काम उँगलियों को सौंप कर, वे 'वायु-सेवन' को निकल ही पड़ते हैं । इसीलिये नाम के साथ रूप को आधार बनाना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य हुआ ।

रूप कैसा ? तत्त्व का तो कोई अपना रूप नहीं—और विश्व में जो कुछ रूप दृष्टि-गोचर होता है, सब उसी का रूप है ।

ध्यान रहे, सम्पूर्ण इन्द्रियों के सम्पूर्ण विषयों को, उस परम तत्त्व में आत्म-सात् करना है, तभी मन देहाध्यास होकर उससे एकाकार हो सकेगा । अतः सम्पूर्ण विश्व के सम्पूर्ण विषय परम-तत्त्व-स्वरूप ही हैं, यही मानकर आगे बढ़ना सम्भव है । विश्व को परम-तत्त्व से भिन्न मानने, पर क्योंकि मन का आधार विश्व-परिधि में ही सन्निहित है, परम-तत्त्व को मन के स्थैर्य के निमित्त आधार ही नहीं बनाया जा सकेगा ।

अतएव सम्पूर्ण विश्व की सम्पूर्ण आकृतियाँ उसी की आकृति हैं, तो किसी भी आकृति-विशेष को मन के एकाग्र करने का आधार बनाया जा सकता है, बशर्ते कि वह मन को रुचिकर हो—मन उसमें तन्मय हो सके ।

किन्तु, मन इतना प्रशिक्षित नहीं कि कथित आकृति को केवल शब्दों में समझ कर, ध्यान में उसका साक्षात्कार कर, उस पर केन्द्रित हो सके । उस निमित्त यह अनिवार्य है कि ध्येय के आकार को पहले स्थूल में दृग् का विषय बना कर—आँखों में जमा ले, तब ध्यान में सुविधा-पूर्वक उस पर केन्द्रित हो । इसीलिये ध्येय की कथित आकृति-विशेष की मूर्तियाँ निर्मित हुई और 'प्रतीक-पूजा' का श्रीगणेश हुआ ।

जड़त्व मूर्ति-पूजा की एक विकट बाधा

प्रतीक-पूजा किंवा 'मूर्ति-पूजा' में प्रतीक—मूर्ति के जड़त्व की एक विकट बाधा सामने आती है । सत्य है कि मूर्ति को दृष्टि में जमा कर ध्यान में उस पर मन को केन्द्रित करना कहीं सरल प्रक्रिया है किन्तु मूर्ति को आधार बना कर मन जहाँ स्थिरत्व पाएगा, वहाँ 'चैतन्यत्व' की उत्पत्ति अत्यन्त ही दुःसाध्य हो जायेगी । अतः 'मूर्ति-पूजा' की प्रक्रिया में मूर्ति का जड़त्व मन से निकाल फेंकना बड़ा ही विकट व्यवसाय बन बैठता है ।

जड़त्व के निष्कासन हेतु 'गुरु-तत्त्व' का आविष्कार

मूर्ति-पूजा की उपर्युक्त विकट समस्या को देखते हुए हमारे ऋषियों के मन में प्रश्न उठा कि आखिर मूर्ति ही क्यों ? जो अवस्था मूर्ति से जड़त्व के निष्कासन में लानी आवश्यक है, वह किसी चैतन्य प्राणी में ही क्यों नहीं लाई जा सकती ? वहाँ जड़त्व का प्रश्न तो रहेगा नहीं ! वह विश्व-निर्मात्री महा-शक्ति तो जड़ एवं चैतन्य सभी में सम-भावेन अनुस्यूत है !

पुनः किसी चैतन्य प्राणी को ही, इष्ट का प्रतीक क्यों नहीं बनाया जा सकता ? जड़ मूर्ति को परम चैतन्य के रूप में देखने के प्रयास के स्थान में, चैतन्य प्रतीक को परम चैतन्य के रूप में देख पाना कहीं सरल प्रयास होगा । उसमें से केवल तत्-समत्व को निकाल कर तद्-रूपत्व का ही तो समावेश करना है !

कहा भी गया है कि सूर्य को सूर्य ही दिखा पाता है, अन्य पदार्थ नहीं । प्रतीक (मूर्ति) जब तक स्वयं पूर्ण-भावेन सूर्य नहीं बन जाता, सूर्य के दर्शन नहीं करा सकेगा ।

अतएव चैतन्य प्राणी के अस्थिर 'मन' में 'परमात्म-तत्त्व' की प्रत्यक्ष अनुभूति कराने के लिये, भारतीय आध्यात्मिक साधना के अन्तर्गत 'मूर्ति-पूजा' के साथ-साथ 'गुरु-करण' का उपदेश हुआ है । धर्म-ग्रन्थों द्वारा यह स्पष्ट रूप में प्रतिपादित हुआ कि 'गुरु' की अनुभूति जितनी ही स्पष्ट होगी, 'परमात्म-तत्त्व' का दर्शन उतना ही निकट होगा एवं यह जितनी स्थूल होगी, 'परमात्म-तत्त्व' का साक्षात्कार उतना ही दूर होगा, जड़त्व का आवरण उतना ही स्थूल होगा ।

गुरु-देव और परमात्मा की अभिन्नता

गुरु-देव एवं परमात्मा की अभिन्नता वाणी का नहीं, अनुभूति का विषय है । जब यह वाणी का विषय बनता है, तो दम्भ का जन्म होता है ।

घट, कुम्भ और कलश—जिस प्रकार एक ही वस्तु के तीन नाम हैं; इष्ट, मन्त्र एवं गुरु भी एक ही पर-तत्त्व के तीन नाम हैं—ऐसा शास्त्र-मत है ।

विश्व तीन रूपों में अभिव्यक्त है । जो इन्द्रियानुभूति का विषय है, वह स्थूल कहाता है—उसका संचालक है बुद्धि-गम्य सूक्ष्म एवं सूक्ष्म का कारण...कारण ! कारण, सूक्ष्म एवं स्थूल में अनुभूति-क्रम की भिन्नता छोड़कर और कोई भिन्नता नहीं है । 'इष्ट' कारण है, 'मन्त्र' वाग्-रूप सूक्ष्म है एवं 'श्रीगुरु-विग्रह' उसी का स्थूल रूप है ।

श्रीगुरुदेव का स्थूल विग्रह दिव्य विग्रह ही है । वे मानव प्राणी नहीं, प्रत्यक्ष परमात्मा मेरे कल्याण के निमित्त स्थूल विग्रह में अनुभूत होते हैं, ऐसी दृढ़ भावना

जिसकी स्थिर नहीं, वह अनन्त जन्मों में भी सफलता की आशा नहीं कर सकता ।

शत - वत्सर अनवरत साधना के बीच यदि एक दिन क्षणार्द्ध को भी मस्तिष्क में यह आ गया कि श्रीगुरु-देव मानव हैं—महा-पुरुष हैं—लौकिक हैं—तो निश्चय ही वह साधक अभी उसी विन्दु पर खड़ा है, जहाँ से उसने प्रस्थान किया था । उसने अभी कुछ नहीं किया—वह रंच मात्र भी अपने स्थान से लक्ष्य की ओर न चल पाया ।

यह सत्य है कि गुरु ही गोविन्द से मिलानेवाले हैं, किन्तु जब तक वे गोविन्द से मिलानेवाले बने हुये हैं, सैकड़ों जन्मों में भी गोविन्द से वे नहीं मिला सकते । गोविन्द से वे तभी मिला पाते हैं, जब (हमारी अनुभूति में) वे स्वयं गोविन्द बन जाएँ । कारण कि गोविन्द से गोविन्द ही मिला सकता है, गोविन्द से भिन्न कोई तत्त्व उससे नहीं मिला पाता । सूर्य को सूर्य ही दिखा सकता है ।

श्रीगुरु-देव को प्रत्यक्ष इष्ट-स्वरूप देख पाना ही साधना-सिद्धि

श्री गुरुदेव की प्रत्येक क्रिया को भगवल्लीला के रूप में देख पाना ही शिष्य की कृत - कृत्यता है । श्री गुरुदेव के विषय में मानवता किंवा अति - मानवता का बोध ही पतन का पथ है क्योंकि उन्हें अति-मानव पाकर तो उनमें 'गुरुत्व' आरोपित किया था । अब उससे आगे अति मानव से 'परमात्म-तत्त्व' की ओर यदि साधक प्रगति नहीं करता है, तो जीवन तो गतिशील है, वह उन्नति नहीं करेगा । अतः अवनति स्वयमेव होने लगेगी । अति-मानव से गुरुदेव मानव होंगे और पुनः पतित मानव और उस पतित मानव से सम्बद्ध वह साधक पतन के गहरे गर्त में जा गिरेगा ।

अतः यह अनिवार्यतः आवश्यक है कि 'गुरु-करण' के उपरान्त प्रति-क्षण श्रीगुरुदेव को अधिक से अधिक दृढ़ता से प्रत्यक्ष 'परम-तत्त्व स्वरूप' में देखने को प्रयत्नशील रहे, जब तक कि देहाध्यास विस्मरण की अवस्था को प्राप्त कर लक्ष्य तक न पहुँच जाए । शास्त्र-मत है—

नर-वद् दृश्यते लोके, श्रीगुरुः पाप-कर्मणा ।

शिव-वद् दृश्यते लोके, भवानि ! पुण्य-कर्मणा ॥

श्री गुरुदेव मानव किंवा अति-मानव (महात्मा, महा-पुरुष) हैं, ऐसा पापों के परिणाम से पापियों (दम्भियों) को दिखाई देता है, किन्तु पुण्य-शीलों को वे प्रत्यक्ष शिव-स्वरूप ही दृष्टि-गत होते हैं ।

श्रीगुरु-माहात्म्य

(योगिनी तन्त्र, प्रथम पटल से उद्धृत)

आदि-नाथो महा-देवि ! महा-कालो हि यः स्मृतः ।
गुरुः स एव देवेशि ! सर्व-मन्त्रेऽधुना परः ॥
शैवे शाक्ते वैष्णवे च, गाणपत्ये तथैन्दवे ।
महा-शैवे च सौरे च, स गुरुर्नात्र संशयः ।
मन्त्र - वक्ता स एव स्यान्नापरः परमेश्वरि ॥
मन्त्र-प्रदान-काले हि, मानुषो नग - नन्दिनि !
अधिष्ठानं भवेत् तस्य, महा-कालस्य शाङ्करि !
देवि ! ह्यमानुषी चेयं, गुरुता नात्र संशयः ॥
मन्त्र-दाता शिरः-पद्मे, यद् ध्यानं कुरुते गुरुः ।
तद् ध्यानं कुरुते देवि ! शिष्योऽपि शीर्ष-पङ्कजे ॥
अतएव महेशानि ! एक एव गुरुः स्मृतः ।
अधिष्ठानं भवेत् तस्यामानुषस्य महेश्वरि !
माहात्म्यं कीर्तितं तस्य, सर्व-शास्त्रेषु शाङ्करि ॥

अर्थात् हे महा-देवि ! जो आदि-नाथ महा-काल हैं, वही सब मन्त्रों के गुरु हैं। शैव, शाक्त, वैष्णव, गाणपत्य, ऐन्दव, महा-शैव और सौरादि मन्त्रों के वही गुरु हैं, इसमें सन्देह नहीं क्योंकि इन सभी सम्प्रदायों में वही मन्त्र-वक्ता हैं। दूसरा कोई मन्त्र-वक्ता नहीं है।

मन्त्र देने के समय, मनुष्य-रूप गुरु में, महा-काल का वास होता है, इसमें सन्देह नहीं। अतः मन्त्र देने का गुरु-कर्म अमानुषी अर्थात् दिव्य होता है।

हे देवि ! मन्त्र-दाता गुरु शिर में स्थित सहस्र-दल पद्म में जिस प्रकार शिव-स्वरूप गुरु का ध्यान करते हैं, वही शिव-स्वरूप गुरु का ध्यान शिष्य भी अपने शीर्षस्थ कमल में करता है।

इसलिये एक-मात्र शङ्कर ही सबके गुरु हैं। शिष्य को मन्त्र देने के समय में जिन अमानुष (भगवान् शङ्कर) का अधिष्ठान होता है, उन गुरु का ही माहात्म्य सभी शास्त्रों में वर्णित है।



शास्त्र-ज्ञान की पूर्ति

एवं

विघ्न तथा त्रुटियों को स्तम्भित करने के अतिरिक्त

चैतन्यत्व की अनुभूति करानेवाला

श्री श्रीगुरु-तत्त्व

(एक रोचक एवं अर्थ-पूर्ण कहानी)

शैशव की मुनी हुई है एक कहानी। प्रकाण्ड विद्वान् थे वे पण्डित जी। पूरा जीवन शास्त्राध्ययन में व्यतीत किया उन्होंने। उस दिन बैठे-बैठे विचार आया—‘मैंने बस पढ़ा ही पढ़ा—आज तक कुछ भी नहीं किया। अब तो जीवन के दिन थोड़े रह गये। कुछ भगवच्चिन्तन भी करना चाहिये।’ और बाजार को चल पड़े।

‘बाल-गोपाल’ की एक पीतल की मूर्ति—घुट रुन चलते हुये, एक हाथ में लड्डू लिये—खरीद लाये। सुन्दर सिंहासन बनाया। सम्पूर्ण शास्त्र-विधानों का सावधानी से पालन करते हुये, मूर्ति में गोपाल की प्राण-प्रतिष्ठा कर सिंहासन पर पधराया। ‘श्रीगोपाल-तापनीयोपनिषद्’ के विधि-विधान से अर्चन प्रारम्भ किया। शास्त्र-ज्ञान का अभाव था नहीं। लगन पूरी थी—शास्त्र में अटल विश्वास एवं श्रद्धा थी। विघ्न एवं त्रुटि उनकी दृढ़ निष्ठा से दूर ही स्तम्भित रह गये।

समय बीतता गया। एक-एक करके छः वर्ष निकल गये। ‘गोपाल’ का प्रत्यक्षीकरण नहीं हुआ। ज्यों-ज्यों समय बीतता, पण्डित जी अधिक उत्साह, लगन, निष्ठा एवं सावधानी से अर्चन करते, पर, अन्त में कहाँ तक ? एक दिन चिन्ता ने धर ही दबाया—‘छः वर्ष व्यतीत हो गये ! अभी तक गोपाल के दर्शन न हो सके। मेरे विधान में कहाँ त्रुटि है ?’

बड़ी सावधानी से उन्होंने निरीक्षण किया। कहीं कोई त्रुटि दृष्टि-गत न हो सकी। और इसी समय विचार आया—‘कलौ काली-विनायकी’—कलियुग में तो ‘काली’ और ‘विनायक’ ही प्रत्यक्ष फल-प्रद देवता हैं, बड़ी मूर्खता की मैंने ! निराश पण्डित जी ने सोचा—‘छः वर्ष व्यर्थ व्यतीत कर दिये। खैर, जो हुआ सो हुआ, अब मूर्खता न करूँगा’, निश्चय कर लिया उन्होंने।

सिंहासन के ऊपर ही एक ताक था। ‘बाल-गोपाल’ को उठाकर उसी में रख दिया। सिंहासन पर ‘भद्रकाली’ की मूर्ति प्रतिष्ठित हुई। और पुनः चली उपासना। अब ‘महाकाल-संहिता’ उनकी पथ-प्रदर्शक थी।

दिन बीतते गये। वही लगन, वही निष्ठा, वही सावधानी। ब्राह्म-मुहूर्त से उनका आह्निक प्रारम्भ होता, मध्याह्न-संध्या कर वे निवृत्त होते। फिर भोजन, थोड़ा विश्राम, पुनः स्वाध्याय, तब सायं-सन्ध्या और पुनः निशि-पूजा में बैठते, तो रात के तीन तक बज जाते। कभी तो सम्पूर्ण रात्रि जागरण ही हो जाता।

एक-दो-तीन करके छः शारद नवरात्र निकल गये। कुछ भी प्रत्यक्ष नहीं हुआ। निराशा की बदली घिर आई। शुद्ध सात्विक वातावरण में वे पले थे। जीवन भर उनका शास्त्राध्ययन में गया था। संस्कार शुद्ध थे। शास्त्र पर तो अविश्वास कैसे करते ! अपनी त्रुटि कोई दिखाई नहीं देती। व्याकुल हो उठे वे पण्डित !

उस दिन दैनिक हवन समाप्त कर बैठे थे सिंहासन के सम्मुख । अत्यन्त ही दुखी था हृदय । साक्षात्कार न होने से बारह वर्ष की एक-निष्ठ साधना ने हृदय को निर्मल कर दिया था, पर माँ के प्रत्यक्ष न होने से हृदय अत्यन्त व्यथित था । व्यथा के संवेग में वे अपने आपको—देश को—काल को भूले जा रहे थे । और दृष्टि गई उनकी—छः वर्ष पूर्व 'बाल-गोपाल' की मूर्ति पर, जिसे सिंहासन के ऊपर के ताक में रख कर वे भूल से ही गये थे । वह मूर्ति वहीं रखी है । हवन, धूप आदि का धूम्र मूर्ति के बाहर निकले हुये मुँह पर होता हुआ जा रहा है । और इसी समय उन्हें विचार आया—'ओफ़, ओह ! माँ काली प्रत्यक्ष हों भी तो कैसे ? मैं जो हवनादि करता हूँ, उसे तो ताक में से सिर निकाले यह ग्वाला ग्रहण कर लेता है । ठहर जा, शैतान ! मैं तेरी नाक के नकुओं में रुई ठूस देता हूँ । फिर देखूँ, कैसे मेरी माँ के निमित्त किये हवन की गन्ध तू बीच में ग्रहण करता है !' और पण्डित जी रुई लेकर उठ खड़े हुये और लगे 'बाल-गोपाल' की नाक में ठूसने ।

किन्तु, यह क्या !—हँसते हुये मुरली-मनोहर ने प्रत्यक्ष हो, उनका हाथ पकड़ लिया । पण्डित जी स्तब्ध थे । श्याम-सुन्दर हँस रहे थे । होश आया, तो झगड़ पड़े पण्डित-राज—'और बात फिर होगी । पहिले यह बात, गोपाल ! किस शास्त्र में लिखा है—तू नाक में रुई ठूसने से दर्शन देता है । मैं छः वर्ष पूर्ण शास्त्रीय विधान से तेरा अर्चन करता रहा । तब कहाँ सो रहा था तू ? और आज नाक में रुई ठूसते ही सामने आ गया !'

'मेरा अर्चन तुमने किया ही कब पण्डित-राज !' श्यामसुन्दर बोले—'जड़ मूर्ति का अवश्य अर्चन करते रहे । उसमें तुमने प्राण-प्रतिष्ठा की क्रिया अवश्य सम्पन्न की थी, पर वह फिर भी मूर्ति ही तो रही—जड़ मूर्ति ! उसमें चैतन्यत्व की अनुभूति तुमने की कब ? जड़ का—मूर्ति का अर्चन करते रहे और जड़ जड़ बना रहा । आज तुमने उसमें चैतन्यत्व की अनुभूति की । तभी तो तुम भूल गये कि जड़ मूर्ति गन्ध ग्रहण नहीं करती । आज उस मूर्ति में तुमने चैतन्य देखा और मैं चैतन्य तुम्हारे सम्मुख आ गया ।'

'तो माँ काली के दर्शन मुझे क्यों नहीं हुये ?' पण्डित जी ने प्रश्न किया । खिलखिला पड़े वासुदेव !

'वही बात ! अरे बाबा, काली की जड़ मूर्ति का ही तो अर्चन करते हो—माँ तो सर्वदा तुम्हारे सम्मुख रही । अब भी है, पर तुमने उसमें चैतन्यत्व की अनुभूति ही कब की ? यह देखो, यह मूर्ति है अथवा परम चैतन्य ?' वासुदेव ने इङ्गित किया ।

पण्डित जी की दृष्टि, सिंहासन की ओर गई, तो माँ भद्रकाली की मूर्ति मृदु मुस्कान बिखेरती, परम वात्सल्य-पूर्ण दृगों से उनकी ओर देख रही थी ।

पण्डित जी आत्म-विस्मृत हो माँ के चरणों में लोट गये ।



‘गुरु’ का अर्थ

एवं

माहात्म्य-निदर्शन

(‘चण्डी’ वर्ष २६ में प्रकाशित ‘राजगुरु-लेख-समुच्चय’ से संग्रहीत)

‘गुरु’ शब्द का अर्थ

‘गुरु’ शब्द तुदादि-गण की ‘गृ निगरणे’ धातु से बना है । ‘गिरति अविद्यान्धकारं इति गुरुः’—जो अविद्या-रूपी अन्धकार को निगल जाता है, अर्थात् जो अज्ञान का नाश करता है, जैसे प्रकाश अन्धकार को मिटा देता है, एवमेव गुरु शिष्य के अज्ञान को अपने ज्ञान से नष्ट कर देता है । इस बात को भगवान् सदा-शिव ने कुलार्णव तन्त्र के १७ वें उल्लास में भगवती पार्वती को उनके प्रश्न करने पर समझाया है—

गु-शब्दस्त्वन्धकारः स्याद्, रु-शब्दस्तन्निरोधकः ।

अन्धकार - निरोधत्वात्, गुरुरित्यभिधीयते ॥

अर्थात् ‘गुरु’-शब्द ‘गु’ और ‘रु’ इन दो शब्दों से बना है । ‘गु’ शब्द का अर्थ है अन्धकार और ‘रु’ शब्द का अर्थ अन्धकार को रोकनेवाला है । अतः ‘गुरु’-शब्द का अर्थ है शिष्य के अज्ञान-रूपी अन्धकार का नाश करनेवाला ।

गकारः सिद्धिदः प्रोक्तो, रेफः पापस्य हारकः ।

उकारो विष्णुरव्यक्तस्त्रितयात्मा गुरुः परः ॥

‘गुरु’-शब्द ग् + उ + र् + उ = दो व्यञ्जन ‘गु’ और ‘रु’ तथा दो उकार स्वरों से मिलकर बना है । गकार सिद्धि का देनेवाला है और रेफ (र) पाप का नाशक है । उकार अव्यक्त विष्णु भगवान् का रूप है । अतः तीन आत्मावाला ‘गुरु’-शब्द अत्यन्त श्रेष्ठ है ।

गुह्यागमात्म - तत्त्वानां, अध्वनां बोधनादपि ।

रुद्रादि - देवता - रूपात्, गुरुरित्यभिधीयते ॥

जो शिष्य को अत्यन्त गुप्त आगम शास्त्र (मन्त्र-तन्त्र) का, आत्म-तत्त्व का, और षट्-अध्वाओं का ज्ञान कराता है तथा जो स्वयं शिव का रूप है अथवा त्रि-देव ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र (संहार-कर्त्ता शिव) स्वरूप है, वह गुरु है ।

गु=गुप्त आगम शास्त्र आदि, रु=रुद्रादि-स्वरूप । अथवा मन्त्र-शास्त्र में—

१ कलाध्वा, २ तत्त्वाध्वा, ३ भुवनाध्वा, ४ वर्णाध्वा, ५ पदाध्वा और ६ मन्त्राध्वा—ये षडध्व माने जाते हैं । गुरु को दीक्षा - प्रदान के समय शिष्य के शरीर में षडध्व = शोधन करना पड़ता है ।

‘गुरु’ - शब्द की व्युत्पत्ति, व्याख्या अथवा परिभाषा (लक्षण) आदि का निदर्शन, शिष्य के सदुपयोगार्थ ही किया गया है। यदि शिष्य ही न होगा, तो गुरु किसके अज्ञानान्धकार का निराकरण (नाश) करेंगे ? और यदि गुरु न हों, तो शिष्य किनसे शिक्षा ग्रहण करेगा ? यतः शिष्य वही कहलाता है, जो गुरुओं से शिक्षा (मन्त्र-दीक्षा) ग्रहण करता है। अतः गुरु और शिष्य दोनों अन्योन्याश्रित हैं। अर्थात् गुरु के आश्रित शिष्य और शिष्य के आश्रित गुरु। दूसरे शब्दों में गुरु के सहारे पर शिष्य और शिष्य के सहारे पर गुरु हैं। इसी से मन्त्र-शास्त्र में गुरु और शिष्य दोनों की परीक्षा का आदेश है।

गुरु के लक्षण

कुलार्णव तन्त्र के १३वें उल्लास में गुरु-लक्षण निम्न प्रकार से दर्शाए गये हैं—

भगवान् शिव भगवती भवानी से कहते हैं कि हे देवि ! गुरु का वेश शुद्ध और मनोहर होना चाहिये। पुरुषों के जितने सामुद्रिक लक्षण बताये गये हैं, उनसे युक्त हो। छोटे कान, भीतर धँसी आँखें, लम्बे दाँत, मोटे अधर, आदि बुरे लक्षणों से युक्त न हो। शरीर के सभी अवयव सुन्दर सुशोभित हो। यह नहीं कि टाँगें मोटी हों और भुजायें पतली हों। सम्पूर्ण आगम-शास्त्र के तत्त्व को समझनेवाला हो। जिसकी आकृति सबको मुग्ध कर ले, देवताओं के समान प्रिय-दर्शी, सुन्दर मुखवाला (हँस-मुख) हो, जो आसानी से मिल सके। मन, वचन और कर्म से स्वच्छ हो। मन और संशय का निवारण करनेवाला हो।

शिष्य के इशारे को समझनेवाला, हाव-भाव से मन की बात जाननेवाला तथा ज्ञानवान् और तर्क-वितर्क करने में चतुर हो। दृष्टि तो बाहर की ओर हो किन्तु मन अपने लक्ष्य की ओर हो। देश-काल के अनुसार सब बातों को समझनेवाला, आज्ञा-सिद्धि वाला अर्थात् जिसके लिये जो कुछ कह दे, उसके लिये वैसा ही हो जाय। त्रि-कालज्ञ अर्थात् भूत, भविष्य और वर्तमान का जाननेवाला, निग्रह और विग्रह करने में समर्थ तथा वेद-दीक्षा करनेवाला हो। शिष्य को ज्ञान करानेवाला, शान्त प्रकृति (स्वभाव), सब जीवों पर दया दिखानेवाला हो, जिसकी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ अर्थात् दसों इन्द्रियाँ अपने वश में हों (जितेन्द्रिय)।

काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह और मात्सर्य के ऊपर विजय पानेवाला, सबमें श्रेष्ठ तथा अग्र-गण्य, गम्भीर-हृदय, विचारवान्, पात्र और कुपात्र की विशेषता का ज्ञानी,

शिव और विष्णु के समान मन्त्र-रूपी भूषणों से विभूषित, सर्व-मन्त्र-ज्ञाता, ममता-रहित, सर्वदा प्रसन्न-मन, स्वतन्त्र, किसी के दबाव में न आनेवाला, अनन्त शक्ति-शाली, भक्तों पर प्रेम करनेवाला, धैर्यवान्, दयालु, स्मित-पूर्वक बात करनेवाला, अपने भक्तों का प्यारा, सबको समान समझनेवाला, गम्भीर-शिष्ट पुरुषों का सेवक, ज्येष्ठ, देवता, गुरु और श्रेष्ठ सुवासिनी दीक्षिता वनिताओं की पूजा के लिये समुत्सुक (उत्कण्ठित), श्रेष्ठ नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्म करने में तत्पर, वाणी से किसी का विद्वेष न करनेवाला तथा भय, पाखण्ड, क्लेश और अहंकार से रहित हो ।

अपने देवता के अनुष्ठान में तत्पर, जनता को धर्म, अर्थ और ज्ञान के मार्ग का प्रदर्शक, अनायास जो प्राप्त हो, उसी से सन्तुष्ट, गुण और दोषों में भेद जाननेवाला, स्त्री तथा धन में अनासक्त, संसार की वासना में न फँसनेवाला, वित्त और विद्या आदि के लालच में पड़कर मन्त्र - तन्त्र और यन्त्र का व्यापार न करनेवाला, निन्दा और स्तुति को समान भाव से धारण करनेवाला, किसी से कुछ अपेक्षा न रखनेवाला तथा प्रत्येक पर नियमन करनेवाला व्यक्ति ही गुरु बनने या बनाने योग्य है ।

गुरु, देवता और मन्त्र की एकता

पर-शिव स्वयं मनुष्य-शरीर में अपने शिष्यों के ऊपर कृपा करने के लिए, गुप्त-रूप से पृथ्वी पर विचरण करते हैं । कृपा - सागर भगवान् सदा-शिव निरहङ्कार होकर, अपने भक्तों की रक्षा के लिये, संसारी पुरुष के समान गुरु-रूप में बराबर घूमते रहते हैं ।

श्री गुरु-देव इस भूमि में बिना तीन नेत्रों के शिव, चार भुजाओं के बिना भगवान् विष्णु तथा चतुर्मुख-रहित भगवान् ब्रह्मा हैं । अर्थात् श्री गुरु-देव त्रि-देवों (ब्रह्मा, विष्णु और महादेव) के समान हैं । केवल भेद इतना है कि ब्रह्मा के चार मुख, विष्णु के चार हाथ और शिव के तीन नेत्र हैं । श्री गुरु-देव का एक ही मुख—ब्रह्मा के चार मुखों का, श्री गुरु-देव के दो ही हाथ—विष्णु के चार हाथों का तथा श्री गुरु-देव के दो ही नेत्र—श्री शिव के तीन नेत्रों का मुकाबला करते हैं ।

यथा दीपक के दर्शन मात्र से अँधेरा दूर हो जाता है, एवमेव सद्-गुरु के दर्शन से शिष्य का अज्ञान विनष्ट हो जाता है । जिस प्रकार अग्नि के निकट स्थापित नवनीत (मक्खन) सहसा पिघल कर भूमि में विलीन हो जाता है, वैसे ही सद्-गुरु के सान्निध्य से शिष्य के पाप विलीन हो जाते हैं । यथा प्रज्वलित अग्नि सूखी लकड़ी को सहसा जलाकर भस्म कर देती है, तथैव गुरु-देव का कृपा-कटाक्ष शिष्य के पापों को भस्म कर डालता है ।

सदा-शिवस्य देवस्य, श्रीगुरोरपि पार्वति !

उभयोरन्तरं नास्ति, यः करोति स पातकी ॥

अर्थात् भगवान् सदा-शिव और श्रीगुरु-देव में भेद नहीं है। जो इन दोनों में भेद-भाव मानता है, वह पातकी पञ्च महा-पातकों का करनेवाला होता है।

यथा घटश्च कलशः कुम्भश्चैकार्थ - वाचकाः ।

तथा देवश्च मन्त्रश्च गुरुश्चैकार्थ - वाचकाः ॥

जैसे घड़ा, कलश और कुम्भ—ये तीन पद एक ही अर्थ को बताते हैं, नाम अलग-अलग हैं, किन्तु अर्थ तीनों का एक ही है। कलश=घड़ा, कुम्भ=घड़ा, घड़ा=कलसा (पानी रखने का बर्तन)। इसी प्रकार देवता, मन्त्र और गुरु—ये तीनों एकार्थ-वाची हैं।

गुरु द्वारा मन्त्र प्राप्त होता है और मन्त्र के जपने से देवता की प्रसन्नता प्राप्त होती है। देवता की प्रसन्नता से चतुर्वर्ग (धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष) की प्राप्ति होती है। अतः ये तीनों एक ही माने जाते हैं।

यथा देवस्तथा मन्त्रो यथा मन्त्रस्तथा गुरुः ।

देव-मन्त्र-गुरुणां च पूजायाः सदृशं फलम् ॥

अर्थात् गुरु, देवता और मन्त्र ये तीनों एक ही हैं। महात्मा कबीर ने लिखा है—

गुरु गोविन्द दोनों खड़े, काके लागौ पाय। बलिहारी गुरु आपने, गोविन्द दियो बताय।

सतगुरु दीनदयाल है, दया करो मोहिं आय। कोटि जनम का पन्थ था, पल में पहुँचा जाय।

गुरु कुम्हार शिख कुम्भ है, गढ़ि-गढ़ि काढ़े खोट। अन्तर हाथ सहार दे, बाहर बाहें (मारे) चोट ॥

गुरु, देवता और मन्त्र में भेद-बुद्धि रखनेवाला साधक नरक-गामी होता है। यथा—

गुरौ मनुष्य-बुद्धिश्च, मन्त्रे चाक्षर-वाचिताम् ।

प्रतिमासु शिला-बुद्धि, कुर्वाणो नरकं व्रजेत् ॥

अर्थात् गुरु को सामान्य मनुष्य मानना, मन्त्र में अक्षर-बुद्धि रखना तथा देव-प्रतिमा को पत्थर, मिट्टी अथवा काष्ठ समझनेवाला साधक नरक-गामी होता है। गुरु को मनुष्य समझनेवाला शिष्य कभी भी सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता। चाहे वह कितने ही हजार मन्त्र क्यों न जपे और कितने ही देवताओं की पूजा क्यों न करे, किन्तु उसे सिद्धि नहीं अपनाती।

गुरुः पिता गुरुमाता गुरुदेवो गुरुगतिः ।

शिवे रुष्टो गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन ॥

अर्थात् गुरु ही पिता हैं, गुरु ही माता हैं, गुरु ही देवता हैं और गुरु ही सर्वथा शिष्य की गति हैं। यदि शिव अपने भक्त के ऊपर रुठ जाएँ, तो गुरु-देव रक्षा कर सकते हैं, किन्तु गुरु-देव के अप्रसन्न होने पर शिष्य की रक्षा करने में कोई समर्थ नहीं हो सकता।

इसी बात को महात्मा कबीर ने बड़े अच्छे ढङ्ग से कहा है—

कबिरा ते नर अन्ध हैं, गुरु को कहते और । हरि रूठे गुरु ठौर हैं, गुरु रूठे नहिं ठौर ॥
तीन लोक नौ खण्ड में, गुरु ते बड़ा न कोय । करता करै न करि सकै, गुरु करै सो होय ॥

इष्ट देवता की प्रत्यक्ष मूर्ति गुरु

श्रीललिता-सहस्रनाम में भगवती के 'गुरु - मूर्तिगुण - निधिर्गो-माता गुह-जन्म-भूः' इत्यादि नामों में एक नाम 'गुरु-मूर्ति' आया है । इसका अर्थ है 'गुरु-देव मूर्तिः शरीरं यस्याः सा' अर्थात् गुरु ही जिसकी मूर्ति हैं । 'नित्या-हृदय' में भी लिखा है—

तामिच्छा - विग्रहां देवी गुरु - रूपां विभावये !

यहाँ पर भी पूर्व-वत् बहुव्रीहि समास है । अर्थात् गुरु जिसका रूप है, वह गुरु-रूपिणी देवी । अतएव अम्बा-स्तव-कार ने भी भगवती को 'गुरु-मूर्ति' ही माना है—

विद्यां परां कतिचिदम्बरमम्ब ! केचित्, आनन्दमेव कतिचित् कतिचिच्च मायाम् ।

त्वां विश्वमाहुरपरे वयमामनामः, साक्षादपार - करुणां गुरु - मूर्तिमेव ॥

अर्थात् है अम्ब ! कोई भक्त तुम्हें विद्या-स्वरूप मानते हैं और कोई तुम्हें अम्बर (आकाश) स्वरूप मानते हैं । कोई तुम्हें विश्व-स्वरूपिणी मानते हैं, किन्तु हम तो तुम्हें साक्षात् अपार करुणा-मयी—अपार दया-मयी 'गुरु-मूर्ति' ही मानते हैं ।

अन्यत्र भी लिखा है—'साक्षात् गुरु-मये देवि ! सर्वस्मिन् भुवनान्तरे ।'

श्रीललिता-सहस्रनाम में 'गुरु-मूर्तिः' नाम के अतिरिक्त भगवती का एक नाम 'गुरु-मण्डल-रूपिणी' भी आया है । इस नाम की व्याख्या श्रीभासुरानन्दनाथ भास्कर राय ने निम्न-लिखित प्रकार से की है—

“गुरुवः परम-शिवादि स्व-स्व-गुरु - पर्यन्तास्तेषां मण्डलं परम्परा सैव रूपं निरूपणं अस्याः ।

अविच्छिन्न - गुह्य - पारम्पर्यं - क्रमागतमिदं रहस्यं ननु पुस्तके लिखितमिति भावः ।

अतएवोक्तं योगिनी-हृदये—‘कर्णात् कर्णोपदेशेन सम्प्राप्तमवनी-तले’ इति ।”

अर्थात् परम शिव से लेकर स्व-स्व-गुरु-पर्यन्त (अपने-अपने गुरु तक), जो 'गुरु-मण्डल' (गुरुओं का समूह) अर्थात् गुरु-परम्परा है, उसी का 'गुरु - मण्डल - रूपिणी' नाम निरूपण करता है । यह अखण्ड गुरु-परम्परा गुप्त रूप से चली आ रही है, जिसका रहस्य पुस्तक में लिखा है, यह भाव है । अतएव 'योगिनी-हृदय' में कहा है कि पृथ्वी पर एक कान से दूसरे कान को उपदेश द्वारा यह गुरु-परम्परा प्राप्त है ।

गुरु-भक्ति-गौरव

विप्रोऽपि गुण-युक्तोऽपि अभक्तो न प्रशस्यते । स्लेच्छोऽपि गुण-हीनोऽपि भक्ति-मान् शिष्य उच्यते ॥

गुरु - भक्ति - विहीनस्य तपो विद्या कुलं व्रतम् । सर्वं नश्यति तत्रैव भूषणं लोक - रञ्जनम् ॥
गुरु-भक्त्यग्निना सम्यग् दग्ध्या सर्व - गतिनरः । श्वपचोऽपि परैः पूज्यो न विद्वानपि नास्तिकः ॥

अर्थात्—ब्राह्मण गुण-गण से परिपूर्ण होने पर भी यदि 'गुरु-भक्ति' से रहित है, तो उसकी प्रशंसा कोई नहीं करता । यदि जाति का शूद्र है—अतएव निर्गुण होकर भी 'गुरु-भक्त' है, तो वह शिष्य प्रशंसनीय है । जो शिष्य बड़ा तपस्वी, विद्वान्, कुलीन और व्रत-तीर्थ करनेवाला है, किन्तु गुरु-भक्ति-विहीन है, उस शिष्य की विद्या, तप, व्रत आदि सब नष्ट हो जाते हैं । शिष्य अपनी गुरु-भक्ति-रूपी अग्नि में सब पापों को दग्ध कर संसार में उज्ज्वल बनकर चमक जाता है । गुरु-भक्त शिष्य निम्न कक्षा का होने पर भी अन्य लोगों से प्रतिष्ठा प्राप्त करता है । उसका समादर सारा समाज करता है, किन्तु विद्वान् होने पर भी जो गुरु, देवता, गौ और ब्राह्मणों का निरादर करनेवाला नास्तिक है, उसका कोई आदर नहीं करता ।

गुरु-भक्ति से मोक्ष-प्राप्ति

जिस शिष्य की अपने गुरु-देव के चरणों में सर्वथा, सर्वदा, सर्वत्र स्थिर भक्ति रहती है, उसके लिये धर्म, अर्थ और काम की तो कोई गणना ही नहीं है, मोक्ष भी उसके हाथ में विद्यमान रहता है । जब इच्छा हो, तब उसे प्राप्त कर सकता है ।

जो साधक सर्वदा भक्ति-पूर्वक यह कहता रहता है और कहता ही नहीं, वरन् दृढ़ता से विश्वास रखता है कि गुरु-स्वरूप शिव मेरे लिये भोग और मोक्ष के दाता हैं, उसके निकट सिद्धि स्वयं आकर उपस्थित होती है ।

जिस शिष्य की अपने इष्ट-देव पर परम भक्ति रहती है और जिस प्रकार इष्ट-देवता पर परा-भक्ति रहती है, उसी प्रकार अपने गुरु-देव के चरणों में भक्ति रखता है, उसी को चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) की प्राप्ति होती है । शास्त्रों में लिखा है—

धर्मार्थ-कामैः किं तस्य मोक्ष एव करे स्थितः । सर्वोपायैर्गुरौ देवि ! यस्य भक्तिः सदा स्थिरा ॥
स शिवो गुरु-रूपेण भुक्ति-मुक्ति-प्रदो मम । इति भक्त्या स्मरेद् यस्तु तस्य सिद्धिः करे स्थिता ॥
यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते कुलेश्वरि ! ॥

श्रोगुरुपादुका-स्मरण से उत्तम गति की प्राप्ति

शाक्त-क्रम के अन्तर्गत पूर्णाभिषिक्त साधकों को गुरु, परम-परापर-परमेष्ठी गुरु, गुरु-पादुका तथा स्व-पादुका का भी पूजन और तर्पण करना पड़ता है, जो बहुत आवश्यक है । रक्त-चरण, शुक्ल-चरण, मिश्र-चरण और निर्वाण-चरण-पादुका का यजन-तर्पण करना भी आवश्यक होता है ।

श्रीगुरु-पादुका का स्मरण-फल और मन्त्र-माहात्म्य सभी प्रकार के धार्मिक कृत्यों में सर्व-श्रेष्ठ है। कोटि बार बड़े-बड़े व्रत रखने से तथा करोड़ों महा-दान देने से और महा-ज्ञान उत्पन्न होने पर भी श्रीगुरु-पादुका-स्मरण करना इन सबसे श्रेष्ठ है। अतएव कुलार्णव तन्त्र में लिखा है—

महा-रोगे महोत्पाते महा-देवि! महा-भये । महाऽऽपदि महा-पापे स्मृता रक्षति पादुका ॥
तेनाधीनं स्मृतं ज्ञानं दृष्टं दत्तं च पूजितं । जिह्वायां वर्तते यस्य श्रीपरा-पादुका-स्मृतिः ॥

अर्थात् कुष्ट आदि महा-रोगों में, बड़े-बड़े उत्पातों में, बड़े अपराधों में और महा-भय की उपस्थिति में, बड़ी आपत्ति के आने पर तथा महा-पाप होने पर भी श्रीगुरु-पादुका का स्मरण शिष्य की रक्षा करता है। जो एक बार भी बड़ी भक्ति-पूर्वक गुरु-पादुका का स्मरण करता है, उसके सब पाप नष्ट हो जाते हैं और अन्त में उत्तम गति को प्राप्त करता है।

ब्रह्मा, विष्णु और शिव के लोक को चाहनेवाले तथा भोग और मोक्ष की इच्छा रखनेवाले साधकों (शिष्यों) को गुरु-भक्ति के अतिरिक्त दूसरा मार्ग नहीं है। यह वेद-वाक्य भी दर्शाता है। यथा (कुलार्णव)—

भोग-मोक्षार्थिनां ब्रह्म-विष्ण्वीश-पद-कांक्षिणाम् ।

भक्तिरेव गुरौ देवि ! 'नान्यः पन्था' इति श्रुतिः ॥

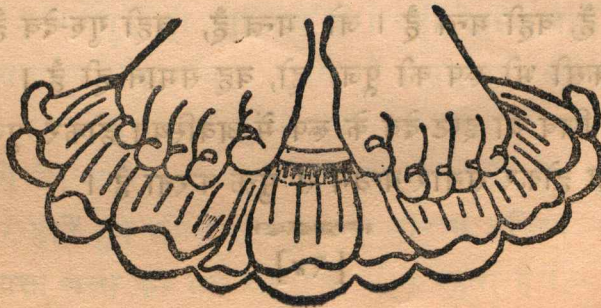
नान्या पन्था विद्यते अयनाय—वेद-वाक्य

गुरुदेव के दूर रहने पर प्रतिदिन गुरु-निवास की ओर प्रणाम करना

गुरुदेव के दूर रहने पर जिस दिशा में वे (श्रीगुरु) विराजमान हों, उस दिशा की ओर प्रतिदिन शिष्य प्रणाम करे। यथा (कुलार्णव)—

श्रीनाथ-चरणाम्भोजं यस्यां दिशि विराजते ।

तस्यै दिशे नमस्कुर्यात् भक्त्या प्रतिदिनं प्रिये ॥





श्रीगुरु-तत्त्व-रहस्य

(विभिन्न शास्त्रों से संग्रहीत)

श्रेष्ठ भक्तों की रक्षा के लिये ही अहङ्कार-रहित परम कृपालु शिव, मनुष्य की आकृति धारण कर संसारी जीव की तरह चेष्टा करते हैं।

ललाट के लोचन, मस्तक के चन्द्र, गङ्गा एवं अर्द्धाङ्ग की भगवती को अन्तर्ध्यान किये हुये, प्रत्यक्ष भगवान् शङ्कर ही श्री गुरु-देव हैं।

तीसरे नेत्र को छिपाये शङ्कर, विशेष दो भुजाओं को अदृश्य किये हुये भगवान् विष्णु एवं तीन मस्तकों को अन्तर्ध्यान रखे श्रीब्रह्मा ही श्री गुरुदेव हैं।

श्री गुरुदेव साक्षात् सदाशिव हैं, इसमें संदेह का प्रश्न ही क्या ? यदि श्री गुरुदेव प्रत्यक्ष शिव न हों, तो भुक्ति एवं मुक्ति देने की सामर्थ्य फिर और किसकी हो सकती है !

इष्ट-देव एवं गुरुदेव दो भिन्न अस्तित्व हैं ही नहीं। जो इनमें अन्तर (दोनों का भिन्न-भिन्न अस्तित्व) मानता है, वह घोर पातकी है।

श्री गुरु-देव मानव शरीर धारण कर, पशुओं के पाश को छिन्न कर, उन्हें परम-पद की अनुभूति कराने को ही अवतीर्ण हुये हैं।

सर्वानुग्रह-कारी, करुणा के समुद्र भगवान् श्री गुरु-रूप-धारण कर दीक्षा के द्वारा पशुओं को मोक्ष प्रदान करते हैं।

जैसे घट, कुम्भ और कलश तीनों शब्द एक ही अर्थ के उद्बोधक हैं, ऐसे ही इष्ट-देव, मन्त्र एवं गुरुदेव एक ही अर्थ के बोधक हैं।

जो इष्ट-देव हैं, वही मन्त्र है। जो मन्त्र है, वही गुरु-देव हैं। प्रत्यक्ष इष्ट-देव, मन्त्र या गुरु-देव—किसी भी रूप की पूजा हो, वह समान ही है।

जो पर-तत्त्व शिव या इष्ट-देव के रूप में अवस्थित होकर पूजा ग्रहण करता है, वही गुरु-रूप में प्रत्यक्ष होकर संसार-बन्धन से मुक्त करता है।



अव्यक्त अविनाशी—‘श्रीगुरु-तत्त्व’

और

‘ॐ श्रीं दाता तू ही’—मन्त्र

(श्रीशिवशङ्कर श्रोत्रिय, भीलवाड़ा, राजस्थान)

सम्पूर्ण प्राणियों तथा अखिल जड़-जगत् की उत्पत्ति ‘गुरु-तत्त्व’ नामक सर्वोच्च सत्ता से हुई है। सृष्टि के आरम्भ में सम्पूर्ण व्यक्त तत्त्व ‘गुरु-तत्त्व’-रूपी अव्यक्त सत्ता से उत्पन्न होते हैं तथा सृष्टि के अवसान के समय सभी व्यक्त तत्त्व पुनः अव्यक्त स्थिति रूपी ‘गुरु-तत्त्व’ में विलीन हो जाते हैं।

अव्यक्त ‘गुरु-तत्त्व’ द्वारा सृष्ट्यात्मक विस्तार दो भिन्न - भिन्न प्रकृतियों द्वारा सम्पन्न हुआ है। एक है अपरा प्रकृति, जिसके भूमि, वायु, अग्नि, जल, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार—ये आठ उपाङ्ग हैं। दूसरी है परा प्रकृति, जिसने एक अखण्ड आत्मा या चेतन-रूप से सम्पूर्ण व्यक्त जगत् को धारण कर रखा है।

गुरु-तत्त्व एवं परा-अपरा प्रकृति के संयोग से उद्भूत सृष्टि-निर्माण का रहस्य ही वास्तविक रूप में जानने योग्य वस्तु है, क्योंकि सृष्टि में प्रत्येक चर व अचर चेतन-तत्त्वों की उत्पत्ति, इन्हीं के संयोग से हुई है।

कभी क्षरित न होनेवाला जीवात्मा-स्वरूप जो चेतन-तत्त्व व्यक्त देहों में है, अपने आप में स्थित रहने की उसमें जो शक्ति है, वह ‘अध्यात्म’ कहलाती है। इस शक्ति के स्फुरण से जो क्रिया-मूलक हलचल होती है, उसे ही ‘कर्म’ कहा गया है।

व्यक्त देहों में क्षरण को प्राप्त होनेवाले जड़-तत्त्व एवं उनकी भिन्न-भिन्न शक्तियाँ, ‘अधिभूत’ कहलाती हैं। इनको शक्तिशाली बनाकर जो नियम-बद्ध रखता है, वह ‘अधिदेव’ कहलाता है।

व्यक्त सृष्टि में ‘सद्गुरु’ ही ‘अधिदेव’ हैं। वही देहस्थ जड़ तत्त्वों में प्रवेश कर, उनको शक्ति-शाली बनाकर नियम-बद्ध रखते हैं। सद्-गुरु की शक्ति वस्तुतः अव्यक्त पुरुष अर्थात् सर्वोच्च सत्ता—‘गुरु-तत्त्व’ ही है और उसे ‘अधिज्ञ’ नाम से जाना जाता है।

इस प्रकार से जो व्यक्ति ‘गुरु-तत्त्व’ को उसकी प्रकृति के गुणों सहित जानता है, वह वर्तमान में गोचर होते हुये भी न तो भूत की और न भविष्य की स्थिति में होता है अर्थात् सदैव ही अव्यक्त सत्ता की सम-रसता में लीन रहता है।

देही जब द्रष्टा-रूप होकर, देह के सम्पूर्ण क्रिया-कलापों को मात्र गुणों के द्वारा सम्पादित समझने लगता है तथा स्वयं को गुणों से परे व उनसे निर्लिप्त समझने लगता है, तब वह अविनाशी एवं अव्यक्त स्थिति—‘गुरु-तत्त्व’ के भाव को ग्रहण करने लगता है। तभी वह गुणों के बन्धन को लाँघ कर, जन्म-मृत्यु के दुःखों से मुक्त होकर अमरत्व का आनन्द प्राप्त करने लगता है।

‘ॐ श्रीं दाता तू ही’—यह एक मन्त्र है। यह ज्ञान का मूल स्रोत भी है। ॐ में अ+उ+म् तथा ‘सम्मिलित’ है। ‘अ’ का अभिप्राय समस्त दृष्ट सृष्टि-व्यापार से है। ‘उ’ का तात्पर्य उस अदृष्ट सत्ता से है, जिससे यह दृष्ट सृष्टि-व्यापार प्रकाश में आया और ‘म्’ का अभिप्राय महा-अहंकार-मूलक उस समष्टि-गत चेतना से है, जो इस सम्पूर्ण दृष्ट प्रपञ्च में प्रेरक के रूप में सर्वत्र विद्यमान है। अनुस्वार (ं) का अभिप्राय चेतना के व्यष्टि-मूलक स्वरूप से है, जिसे जीवात्मा की संज्ञा दी जाती है।

इस प्रकार ‘ॐ’ के उच्चारण से सृष्टि में स्थित ईश्वर, प्रकृति व जीव का एक साथ बोध होता है।

‘ॐ श्रीं दाता तू ही’ मन्त्र में ‘श्रीं’ इच्छा नामक वह स्फुरण है, जो व्यष्टि-मूलक चेतना में समष्टि-रूप से स्पन्दित होता रहता है। अर्थात् जीव-भाव सदैव ‘श्रीं’ अर्थात् श्रेयस्कर स्थिति ही चाहता है, जिसको दूसरे शब्दों में आनन्द-मयी अवस्था भी कहा जा सकता है। प्रत्येक जीव आनन्द-मयी अवस्था को प्राप्त करने के प्रयत्न में लगा रहता है।

आनन्द या ‘श्रीं’ ही ‘ॐ’-रूपी लीला का सार तत्त्व है, जो शाक्त-मत में ‘काम-कला-विलास’ नाम से जाना जाता है। यही मौलिक रूप में सभी जीवों को अभीष्ट है।

‘आनन्द’ का दाता अर्थात् देनेवाला ‘तू’ (गुरु) ही है। ‘तू’ व्याकरण-शास्त्र का मध्यम पुरुष-वाचक सर्वनाम है। ‘तू’ अर्थात् अपने से भिन्न दूसरा, जो आमने-सामने है और जिसमें तीसरा और कोई नहीं होता।

देही (मानव) जब अपने से भिन्न किसी को अपने में ही देखना चाहता है, तो उसकी स्वाभाविक दृष्टि उसकी दोनों आँखों की भौहों के बीच टिक जाती है। भौहों के बीच में टक-टकी लगाने पर, गहन अँधेरे में प्रकाश की एक लौ दिखाई देती है। अँधेरे को गुह (गुः) या गुफा कहा गया है और प्रकाश की ज्योति को ‘रुः’ या उजाला बताया गया है। इसे ही ज्ञानियों ने ‘गुरु’ की संज्ञा दी है। यह ज्योति सदा रहती है, कभी नष्ट नहीं होती, इसीलिये इसे ‘सद्-गुरु’ कहा गया है।

यह ज्योति ही, देही की भावनाओं के अनुरूप आकार धारण कर, उससे सम्पर्क स्थापित कर लेती है तथा देही का अनन्य संगी बन कर सदैव उसको 'श्री' अर्थात् आनन्द देनेवाली हो जाती है।

जब देही अपने ही समान किसी अन्य देही के स्वरूप पर, उसकी सदाशयता के कारण मुग्ध होकर, अपना प्रेम व अपनी भक्ति तथा श्रद्धा उस पर न्योछावर करके, उस रूप को अपने हृदय की ज्योति में धारण कर लेता है, तो यह काम बहुत अधिक सरलता से हो जाता है। इसीलिये ज्ञानी, सात्त्विक एवं दयालु महा-पुरुषों को सद्-गुरु के रूप में चुनने की परम्परा का विकास हुआ है।

● ● ●

श्रीपादुका-ध्यान

(श्री सूर्यप्रकाश गोस्वामी, एम० ए०, बी० एड०)

देवताओं की विविध विधि साधनाएँ छोड़ दीं।

पाठ-पूजा के नियम की दृढ़ विधाएँ तोड़ दीं ॥

हो गया निश्चिन्त मन में प्रेम से कर जोड़ कर।

वृत्तियाँ सम्पूर्ण श्रीगुरु-ध्यान में ही मोड़ दीं ॥

अर्चना से हीन ही पल में विमल मन बन गया।

पाद पारस स्पर्श से ही शुद्ध कंचन बन गया ॥

हो गया निश्चिन्त संशय-ग्रंथियों को भेद कर।

ज्ञान के दृग खुल गये 'शिव का गजानन' बन गया ॥

सिद्धियाँ आकर हमारे पाँव धोने लग गईं।

सहस्रदल के कमल की सोई पँखुरियाँ जग गईं ॥

गुरुदेव की पद-पादुका का ध्यान श्रद्धा से किया।

भगवती उर बस गई जग-वासनाएँ भग गईं ॥

गुरु-कृपा है तो करें किसकी सपर्या आरती ?

गा रही जिनकी अहर्निश गुण - कथाएँ भारती ॥

एक ही संकेत गुरु ने पुत्र के प्रति कर दिया।

दश महा-विद्या विवश होकर मुझे पुचकारतीं ॥

● ● ●

देवता, गुरु और मन्त्र की एकता का ज्ञान

(प्राण-तोषिणी तन्त्र से उद्धृत)

हे देवि ! गुरु ही एकमात्र शिव कहे गये हैं और वह मैं ही हूँ, इसमें सन्देह नहीं । तुम भी हे देवेशि ! गुरु ही हो और मन्त्र भी गुरु कहा गया है । अतः मन्त्र, गुरु और देवता में कोई भेद नहीं है । कभी उस गुरु का ध्यान सहस्रार-पद्म में, तो कभी हृदय-कमल में, तो कभी दृष्टि-पथ (भ्रू-मध्य) में करना चाहिए । देवता, गुरु और मन्त्र की एकता की भावना बुद्धि द्वारा करते रहने से मन्त्र सिद्ध होता है ।

पार्वती जी ने पूछा—हे प्रभु महादेव ! एकता का ज्ञान कैसे उत्पन्न होता है ? गुरु की आकृति मनुष्य की है, देवता की ध्यानोक्त-रूप की और मन्त्र की अक्षरों के रूप की है । फिर इनमें एकता कैसे होती है ?

शिव जी ने उत्तर दिया—हे देवि ! एक ही जाति, स्वरूप और स्वभाव से एक ही जन्म होने से भाव-योग में एक ही प्रकार का साधन है । गुरु से मन्त्र का जन्म होता है और मन्त्र से देवता उत्पन्न होता है । अतः गुरु देवता का पितामह हुआ । पिता की भावना से जैसे पिता का पिता ।

गुरु, देवता और मन्त्र तीनों एक ही जाति अर्थात् निराकार-स्वरूप हैं । महा-काल को ही गुरु-रूप में बताया गया है, मन्त्र ध्वनि-मय है और देवता के आकार की कल्पना की जाती है—इस प्रकार तीनों की ही निराकारता समझनी चाहिये ।

श्री देवी ने पूछा—हे नाथ ! गुरु मनुष्य की आकृति वाला है, मन्त्र सदा अक्षर-रूप वाला है और देवता ध्यान के अनुसार रूपवाला है । ऐसी दशा में इन तीनों में ऐक्य किस प्रकार है, यह बताइये ।

श्री शिव ने उत्तर दिया—हे प्रिये ! श्रेष्ठ साधक गुरु-मुख से महा-मन्त्र प्राप्त करता है, देवता का शरीर गुरु-मुख से प्राप्त बीज से ही उत्पन्न होता है और गुरु की आज्ञानुसार उसकी मूर्ति होती है । अतः इन तीनों की एकता बताई गई है ।



गुरु-तत्त्व-चिन्तन

(कुमारी रेखा परमार, रायभा, आगरा)

प्रत्येक जीव के लिये दो मार्ग हैं—१ श्रेय और २ प्रेय अथवा निवृत्ति और प्रवृत्ति। जीव के एक ओर परमात्म-तत्त्व है और दूसरी ओर संसार। इनमें से जहाँ के मार्ग को वह ग्रहण करता है, वही उसको प्राप्त होता है। संसार की ओर जानेवाला, दुःखों के सागर में डूब जाता है और परमात्म-तत्त्व की ओर जानेवाला सत्, चित् और आनन्द को प्राप्त करता है। परमात्म-तत्त्व को प्राप्त करने के लिये निश्चित सङ्कल्प, दृढ़ धारणा और पूर्ण शक्ति की हमें आवश्यकता होती है। अपनी सारी शक्तियों को आत्म-तत्त्व की प्राप्ति की ओर गति-शील बनाकर ही परमात्म-तत्त्व की प्राप्ति होती है। इस प्रकार हमें बोध होता है कि शक्ति के आश्रय के बिना परमात्म-तत्त्व की प्राप्ति सम्भव नहीं है।

शाक्त-मत का एक महा-मन्त्र है—‘ॐ ह्रीं ॐ’। यह महा-मन्त्र ही सम्पूर्ण वेदान्त है। एक ओर परमात्म-तत्त्व है और दूसरी ओर उसी का अंश-रूप जीव। मध्य में परमात्म-तत्त्व का अन्य रूप परन्तु उससे अभिन्न शक्ति-तत्त्व है। जो व्यक्ति प्रवृत्ति-मार्ग का अनुसरण करते हैं, उन्हें यह शक्ति-तत्त्व ‘माया’-रूप से संसार की प्राप्ति कराता है। शक्ति का यह माया-रूप ही जीव पर अज्ञान का पर्दा डालकर उसके मूल-रूप की प्रतीति नहीं होने देता। जो व्यक्ति निवृत्ति-मार्ग का अनुसरण करते हैं, उन्हें यही शक्ति-तत्त्व परमात्म-शक्ति-रूप से परमात्म-तत्त्व की प्राप्ति कराता है। यह शक्ति-तत्त्व ही परमात्म-तत्त्व है, गुरु-तत्त्व है। यहाँ अनुसंधान-स्वरूप हमें एक नया नाम मिलता है—‘गुरु-तत्त्व’ का, जो सर्व-प्रकार की साधना का मूल है।

आध्यात्मिक साधना के सम्बन्ध में शास्त्रों और विद्वानों का यह निश्चित मत है कि ‘गुरु-तत्त्व’ लक्ष्य-प्राप्ति में सर्वाधिक सहायक ही नहीं, अपितु नितान्त आवश्यक है। सभी शास्त्र गुरु को ईश्वर का स्वरूप ही मानते हैं। आध्यात्मिक उन्नति के लिये मार्ग-दर्शक गुरु का स्थूल अथवा सूक्ष्म-शरीरी होना नितान्त आवश्यक है। सूक्ष्म-शरीरी गुरु तो बड़े भाग्य-शालियों को ही प्राप्त होते हैं। स्थूल-शरीरी गुरु प्राप्त होने पर ही जिज्ञासा और श्रद्धा की तीव्रता अधिक बढ़ती है। वेद, पुराण और स्मृतियों के महान् ज्ञाता महात्मा तुलसीदास ने भी कहा है—

बन्दउँ गुरु-पद-कंज कृपा सिन्धु नर रूप हरि ।

महा मोह तम पुंज जासु बचन रवि-कर निकर ॥

अध्यात्म में गुरु-तत्त्व एक विलक्षण शक्ति है, जिससे संसार का संचालन हो रहा है। उसी शक्ति में अटूट श्रद्धा और विश्वास होने पर, गुरु-संबल के सहारे मनुष्य तत्त्वातीत की ओर चल पड़ता है। जो हमें अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाय, जिससे ज्ञान मिले, लक्ष्य स्पष्ट हो जाय और अपना सही स्वरूप ज्ञात हो जाय, वही गुरु-तत्त्व है। यह गुरु-तत्त्व ही संसार में व्याप्त है। इसीलिये कहा गया है—

अखण्ड-मण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम् ।

तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

शक्ति के तीन रूप हैं—१ स्थूल रूप—जो ब्रह्माण्ड में दृष्टि-गोचर है, २ सूक्ष्म-रूप—जो वर्ण-मय है; ३ पर-रूप—जो इस पिण्ड-शरीर में क्रिया-शील है। शक्ति की भाँति ही गुरु-तत्त्व भी तीन रूपों में शिष्य-साधक की सहायता करता है—१ मानवौघ, २ सिद्धौघ और ३ दिव्यौघ। इन्हें ही क्रमशः गुरु, परम गुरु और परमेष्ठी गुरु कहा जाता है।

शास्त्रों के अनुसार प्रत्येक साधक को प्रारम्भ से अन्त तक परमात्म-तत्त्व की प्राप्ति तक चार अवस्थाओं से गमन करना होता है। ये अवस्थाएँ हैं—१ आरम्भावस्था, २ घटावस्था, ३ परिचयावस्था और ४ निष्पत्ति अवस्था। इन अवस्थाओं में आरम्भावस्था एवं घटावस्था में मानवौघ गुरु की मुख्य भूमिका रहती है। परिचयावस्था में सिद्धौघ गुरु एवं निष्पत्ति अवस्था में दिव्यौघ गुरु की केन्द्रीय भूमिका रहती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि साधना में गुरु की नितान्त आवश्यकता रहती है। गुरु-तत्त्व की तीन धाराओं (मानवौघ, सिद्धौघ, दिव्यौघ) की त्रिवेणी अनादि-काल से निरन्तर प्रवाहित हो रही है।

सम्पूर्ण सृष्टि गुरु-तत्त्व-मय है। कोई भी साधना अथवा उपासना गुरु-कृपा के बिना सुलभ नहीं होती। साधना की तीव्रता और पूर्णता 'गुरु-तत्त्व' की सक्रियता और चैतन्यता पर ही निर्भर है। इसीलिये कहा जाता है कि गुरु के मूल में यह सम्पूर्ण विश्व, परम तप और साधना का विषय है। गुरु ही साधक के समस्त कार्यों को सम्पन्न कराते हैं और वे साक्षात् शिव ही हैं।

गुरु ही पर - तत्त्व हैं। गुरु - मुख से उपदेश ग्रहण किये बिना, मन्त्र के कोटिशः पुरश्चरण करने पर भी सिद्धि प्राप्त नहीं होती। अतः यत्न करके स्व-कल्याण हेतु गुरु की शरण प्राप्त करनी चाहिये। गुरु-मुख से श्रवण किए बिना, पुस्तकों से देखकर मन्त्र-जप करना निषिद्ध माना गया है। ऐसा करनेवाला स्वयं और उसके माता-पिता-बन्धु हीन गति को प्राप्त होते हैं। गुरु से एकात्म हो जाने अर्थात् अद्वैत भाव हो जाने पर साधक के घोर-से-घोर पाप भी क्षण-मात्र में नष्ट हो जाते हैं।

दीक्षा और शिक्षा के भेद से गुरु दो प्रकार के होते हैं—१ दीक्षा-गुरु और २ शिक्षा-गुरु। दीक्षा - गुरु तो शिष्य से अनादि-काल से सम्बन्धित है, परन्तु शिक्षा - गुरु परिवर्तनीय है, जो अनेक हो सकते हैं। दीक्षा - गुरु एक ही होता है। जिस गुरु के मुख से मन्त्रोपदेश ग्रहण कर, उसके निर्देशन में साधनाभ्यास किया जाता है, वह गुरु ही परम ज्ञेय है और उसका आदेश ही सिद्धि-प्रद होता है। १ प्रेरक, २ सूचक, ३ वाचक, ४ दर्शनीय ५ शिक्षक और ६ बोधक—ये छः प्रकार गुरु के बताये गये हैं। इनमें बोधक (दीक्षा-गुरु) ही सर्व-श्रेष्ठ है।

साधक के लिये गुरु, मन्त्र और देवता में ऐक्य-भावना रखना परमावश्यक है। गुरु, परम-गुरु और परमेष्ठी गुरु साक्षात् पर-ब्रह्म ही हैं, इसमें संशय नहीं। बृहन्नील तन्त्र का मत है—

परापर-गुरुणां च निर्णयं शृणु पार्वति !

आदौ सर्वत्र देवेशि ! मन्त्रदः परमो गुरुः ॥

परापर-गुरुस्त्वं हि परमेष्ठी त्वहं गुरुः ।

सर्वं गुरु-मुखात्लब्धं सफलं स्यान्न चान्यथा ॥



आत्म-विज्ञापन एवं वाणी-चातुर्य के युग में

गुरु की परीक्षा

गुरु-शिष्यावुभौ मोहादपरीक्ष्य परस्परम् । उपदेशं ददन् गृह्णन् प्राप्नुयात् पिशाचताम् ॥

अर्थात्—गुरु एवं शिष्य दोनों आपस में एक दूसरे की सम्यक् प्रकार से परीक्षा किये बिना, यदि उपदेश देते एवं लेते हैं, तो वे दोनों मर कर पिशाच बनते हैं ।

किन्तु यहाँ प्रश्न उठता है कि अल्पज्ञ को परीक्षा सुझ ही कर सकता है। सुज्ञ की परीक्षा अल्पज्ञ क्या व कैसे करेगा ? मैट्रिक का विद्यार्थी ग्रेजुएट की परीक्षा नहीं ले सकता ।

इस न्याय से श्री गुरु-देव तो शिष्य की परीक्षा करने में समर्थ हैं, किन्तु शिष्य गुरु-देव की परीक्षा क्या करे और कैसे करे ?

श्री गुरु-देव स्वयं परम शक्ति-स्वरूप हैं । वे सकल - अकल, सगुण-अगुण, परिच्छिन्न - अनन्त एवं उन सम्पूर्ण विशेषणों के एक-मात्र स्थल हैं, जो विश्व के ईश्वर-वादी 'ईश्वर-तत्त्व' के निमित्त प्रयोग में लाते हैं । ऐसे सर्वेश्वर की क्या परीक्षा और कैसे ?

इस प्रश्न के उत्तर में यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि 'गुरु' के गुण अनन्त हैं, तथापि शास्त्र ने अत्यधिक विस्तार के साथ उनका गुण-गान किया है । यथा—

शुद्ध-वेश धारण करनेवाले, सम्पूर्ण शुभ लक्षणों से युक्त, सम्पूर्ण वेद, तन्त्र एवं शास्त्रों के ज्ञाता, सम्पूर्ण तन्त्रों की क्रियाओं के ज्ञाता, सम्पूर्ण अङ्ग-युक्त (हीनाङ्ग/अधिकाङ्ग से रहित), आकर्षक व्यक्तित्व वाले, देवता की तरह प्रिय-दर्शन, स्वच्छ, भ्रम एवं संशय नष्ट करनेवाले, तन्त्र-संकेतों के जानकार, परम बुद्धिमान, ऊहापोह-विशेषज्ञ, अन्तर्लक्ष्य, बहिर्दृष्टि से सम्पन्न, देश एवं काल के ज्ञाता, आज्ञा-सिद्ध, त्रिकाल को जाननेवाले, निग्रह एवं अनुग्रह करने में समर्थ, शक्ति-पात एवं कुण्डलिनी-उद्बोधन की शक्ति से सम्पन्न, शान्त, जीव मात्र पर दयार्द्र-चित्त, स्वतन्त्र, संयमी, षड्-रिपुओं पर विजय दिलवानेवाले, अग्र-गण्य, गम्भीर, पात्र-अपात्र को विशेष रूप से जाननेवाले, शिव एवं विष्णु जैसे प्रतापी, साधु, ममता से रहित, नित्य सन्तुष्ट, अनन्त शक्ति से युक्त, भक्त-वत्सल, धैर्यवान्, कृपालु, प्रसन्न - वदन, भक्त-प्रिय, सम, शिष्ट, साधक, नित्य-नैमित्तिक एवं काम्य कर्म में लगे हुये, वाग्विद्वेष, भय, क्लेश, दम्भ और अहङ्कार से रहित, अपनी विद्या के अनुष्ठान में लगे हुये, जो प्राप्त हो-उसी में सन्तुष्ट रहनेवाले, गुण एवं दोष का भेद करने में कुशल, स्त्री, धन आदि में अनासक्त, दुष्ट जनों के सङ्ग से रहित,

द्वन्द्व-रहित, लोभ-रहित, असङ्ग, निष्पक्ष, धन या विद्या के बदले मन्त्र, यन्त्र, तन्त्रादि को न बेचनेवाले, विकल्प-रहित, संशय-रहित, निन्दा-स्तुति को समान समझनेवाले, निरपेक्ष एवं नियामक श्रीगुरुदेव होते हैं ।

शास्त्र कहते हैं—

यः शिवः सर्वगः सूक्ष्मो निष्कलश्चोन्मनोऽव्ययः । व्योमाकारो ह्यजोऽनन्तः स कथं पूज्यते प्रिये ॥

अतएव गुरुः साक्षाद् गुरु-रूपं समाश्रितः । भक्त्या संपूजयेद् देवि ! भुक्तिं मुक्तिं प्रयच्छति ॥

अर्थात्—जो परम कल्याण-स्वरूप परमात्म-तत्त्व सर्व-व्यापी, सूक्ष्म, निष्कल, अव्यय, आकाश की तरह शून्य, अजन्मा और अनन्त है, उसको आराधना कैसे सम्भव है ? अतः वह गुरु (परमात्म-तत्त्व) ही प्रत्यक्ष गुरु-रूप में प्रगट है, जिनकी भक्ति-पूर्वक आराधना करने से भोग एवं मोक्ष दोनों प्राप्त होते हैं ।

मनुष्य-चर्मणा नद्धः साक्षात् पर-शिवः स्वयम् । स्व-शिष्यानुग्रहार्थाय गूढं पर्यटति क्षितौ ॥

अर्थात् मनुष्य को चमड़ी में परिच्छिन्न वे साक्षात् पर-ब्रह्म अपने शिष्य के कल्याण के निमित्त गुप्त रूप में पृथ्वी पर पर्यटन करते हैं ।

श्रीगुरुं परमं तत्त्वं तिष्ठन्तं चक्षुरग्रतः । मन्द-भाग्या न पश्यन्ति शुल्काः सूर्यमिवोदितम् ॥

अर्थात्—आँखों के सामने श्रीगुरु-देव की मानव-आकृति में प्रत्यक्ष परम-तत्त्व के प्रस्तुत होते हुये भी अभागे देख नहीं पाते, जैसे अन्धा उदय हुए सूर्य को नहीं देखता ।

इस प्रकार श्रीगुरु-तत्त्व की व्याख्या से शास्त्र भरे पड़े हैं । किन्तु, प्रश्न यह है कि आज के वाणी-चातुर्य एवं आत्म-विज्ञापन के एवं क्रिया-हीन केवल पठन - पाठन के युग में श्रीगुरु - देव का परिचय कैसे प्राप्त हो ? कोई विशिष्ट परीक्षा तो सम्भव नहीं, केवल आत्मानुभूति का ही सहारा है । इसी से शास्त्र - मत है कि उपर्युक्त लक्षणों को देख कर पुनः स्वात्मानुभूति का आश्रय ग्रहण करे । वह इस प्रकार कि—

जिनके स्मरण से और दर्शन से विशेष आनन्द की अनुभूति हो, जिनके दर्शन कर श्रद्धा का स्वयं उद्भव हो, किसी भी अनुचित कार्य को करते समय, जिनकी स्मृति आ जाने पर हृदय में स्वाभाविक धक्का - सा लगे, जिनके स्पर्श से परम आनन्द की अनुभूति हो, जिनकी आज्ञा पालन करने में हृदय में स्वयं उत्साह हो—समझ ले कि 'ये ही मेरे उद्धारक, परम कृपालु गुरु-देव हैं । परम प्रभु ने—जगन्माता ने यही मानव-आकृति मेरे उद्धार के निमित्त धारण की है' और ऐसा समझकर उन्हीं को गुरु-रूप में वरण करे । गुरु का वरण कर उनके निर्देशानुसार उपासना में तन्मय हो ।



गुरु का साक्षात्कार

(अमरीका के आधुनिक रोचक प्रसङ्ग सहित)

महा-भारत में एक प्रसिद्ध कथा है। जब द्रोणाचार्य ने एकलव्य को किरात होने के कारण शिष्य बनाने या धनुर्विद्या सिखाने से इनकार कर दिया था, तब एकलव्य ने जङ्गल में जाकर द्रोणाचार्य की मूर्ति बनाकर उसकी उपासना की थी। एकलव्य, उसी मूर्ति से धनुर्विद्या सीख कर, उसमें पारङ्गत हो गया। हम लोग इस कथा को पढ़ते हैं, पर समझ में नहीं आता कि द्रोणाचार्य की मूर्ति कैसे सजीव हो गई और सजीव होकर उसने एकलव्य को पूरी धनुर्विद्या कैसे सिखला दी। हम लोगों को यह असम्भव-सा प्रतीत होता है।

पर इस भौतिक आधुनिक युग में भी अमेरिका की कोलाहल - पूर्ण नगरी में रहकर, बिना किसी जङ्गल में जाकर, अपने जीवन से हिल साहब ने सिद्ध कर दिया है कि एकलव्य की घटना अक्षरशः सत्य है।

घटना इस प्रकार है कि हिल साहब ने अपने जीवन का उत्कर्ष करने के लिए संसार के नौ महा-पुरुषों को अपना आदर्श बना लिया था।

उन नौ में से उस समय दो पुरुष जीवित थे। सोने के पहले रात्रि में हिल साहब उपर्युक्त नौ पुरुषों का दृढ़-धारणा के साथ ध्यान करते थे। हरेक के गुणों को वे जोर से पढ़ते थे और प्रार्थना करते थे कि उन लोगों के गुण उनमें आ जायें। इस प्रकार छः महीने के सतत प्रयत्न के बाद हिल साहब की दिव्य दृष्टि खुल गई, जिसको अंगरेजी में 'ओपनिंग आफ दि सिक्स्थ सेंस' कहते हैं। उन्होंने देखा कि उपर्युक्त नौ महा-पुरुष उनकी टेबुल के चारों तरफ आकर बैठ गये हैं और उन्होंने हिल साहब को भी बुलाकर अपनी मण्डली में बैठा लिया।

उपर्युक्त नौ महापुरुषों में से दो याने एडिसन और फोर्ड उस समय अमेरिका में जीवित अवस्था में थे, पर वे भी हिल साहब के कमरे में आकर उनकी टेबुल के चारों तरफ बैठ गये।

इस प्रकार की घटना हर रात्रि में होने लगी। आपस में सब तरह का विचार-विमर्श होता था और हँसी-मजाक भी हुआ करता था। कुछ दिनों के बाद हिल साहब ने घबड़ाकर इसको बन्द कर दिया। कुछ दिनों बाद, हिल साहब लिखते हैं कि फिर से इसका अभ्यास उन्होंने आरम्भ किया और अब उनसे मिलनेवालों का नम्बर पचास तक पहुँच गया। जिन लोगों में लार्ड क्राइस्ट भी एक थे।

परमहंस स्वामी रामकृष्ण की जीवनी में भी इसका उल्लेख है कि रामलला, क्राइस्ट, मुहम्मद साहब, गौतम बुद्ध आदिकों का सदेह दर्शन उन्हें हुआ करता था। लोग कह सकते हैं कि एकलव्य की कथा पौराणिक है और स्वामी रामकृष्ण बहुत ऊँचे दर्जे के साधु थे, पर हिल साहब की बात तो आधुनिक है और इसका वर्णन अमेरिका में प्रकाशित अंग्रेजी पुस्तक में है।

अब विचारने की बात यह है कि उपर्युक्त घटनाएँ क्यों हुईं? इसका समर्थन तो हर तन्त्र-ग्रन्थ में है, परन्तु हम लोगों का विश्वास उस पर से उठ गया है। उपासना का रहस्य भी तो यही है। हम लोगों की उपासना मृत होती है, इसीलिये उसका फल कुछ नहीं होता। जब तक पूरा प्राण नहीं दिया जाये, तब तक उपासना के फल की प्रत्यक्षता नहीं होती।

आज भारतवर्ष के लोग इस आधार को भूल गये हैं, इसीलिये हम लोगों की सब पूजा, सब उपासना, सब जप निष्फल होता है। हम लोगों की उपासना में वह दृढ़ लगन, वह श्रद्धा, वह विश्वास कि यह उपासना जरूर सफल होगी, मैं सफल करके ही छोड़ूंगा, मेरे गुरु और इष्ट-देवता सत्य हैं और सब कुछ कर सकते हैं—वह कहाँ हैं ? इसी गूढ़ रहस्य को हम भारतवासी भूल गये हैं।

तन्त्र-ग्रन्थों में गुरु-तत्त्व का निर्देश उपर्युक्त भित्ति ही पर किया गया है। गुरु-उपासना का प्रधान और प्रचलित स्तोत्र निम्न प्रकार है—

ब्रह्मानन्दं परम-सुखदं केवलं ज्ञान-मूर्तिम्, द्वन्द्वातीतं गगन-सदृशं तत्त्वमस्यादि-लक्ष्यम् ।

एकं नित्यं विमलमचलं सर्व-धी-साक्षि-भूतं, भावातीतं त्रिगुण-रहितं सद्-गुरुं तं नमामि ॥

यदि उपर्युक्त स्तोत्र का पाठ पूरी तन्मयता के साथ किया जाय, उसके हरेक शब्दों पर दृढ़ भावना की जाए, यह दृढ़ कल्पना की जाय कि मेरे गुरु मेरे सामने प्रत्यक्ष बैठे हैं, तब इसका फल यह होगा कि गुरु सचमुच प्रकट भी हो जायेंगे और उपर्युक्त श्लोक के गुणों को भी हम लोग अपने में अपना लेंगे। पर खेद का विषय यह है कि हम भारतवासियों का संस्कार गन्दा हो गया है, हम लोगों की बुद्धि संशयात्मिका हो गई है, किसी एक बात पर नहीं ठहरती; सदा एक बात से दूसरी बात पर कूदती रहती है।

हम लोगों के यहाँ इसके बहुत दृष्टान्त हैं कि गुरु कभी-कभी कई मूर्तियों को धारण कर लेते हैं। यह कोई अनहोनी या असम्भव बात नहीं है। श्रीमत्स्येन्द्रनाथ की कथा है कि वे कई रूप धारण कर लेते थे। वृन्दावन की गोपियों ने भी अपनी-अपनी दृढ़ भावना से अलग-अलग श्रीकृष्ण भगवान् का पृथक्-पृथक् रूप सङ्गठित कर लिया था। यह गोपियों की दृढ़ भावना, श्रद्धा और प्रेम का फल ही था कि श्रीकृष्ण भगवान् हरेक के लिये अलग-अलग रूप में प्रगट हो गये।

भारतीय उपासना-पद्धति का गुरु-तत्त्व ऊपर के सिद्धान्त ही पर अवलम्बित है। गुरु, मन्त्र तथा उपास्य देवता में कोई भेद नहीं है—तीनों एक ही वस्तु हैं। मन्त्र का जप इसी भाव से करना चाहिये। यदि आपके पास मन्त्र है, तो आपके गुरु भी साक्षात् ही हैं और देवता भी हैं। गुरु की भावना भी देवता के ही रूप में करनी चाहिये। गुरु कोई स्थूल शरीरधारी मनुष्य नहीं हैं—‘गुरु स्वयं साक्षात् परम-ब्रह्म परमेश्वर ही स्थूल रूप धारण कर मेरे दृष्टि-गोचर हो रहे हैं’—इसी भाव को जितना जोर से अपने हृदय में साधक बैठाते हैं, उतना ही उनकी उपासना फल-प्रद होती है।

गुरु हमारे साथ बराबर रहते हैं, मेरे श्वास-प्रश्वास में, खाने-पीने बैठने चलने सोने में, सदा सब समय उनसे मेरा सम्बन्ध अविच्छिन्न है; वे सब जगह मेरी रक्षा करने के लिये तैयार हैं, मेरी हर बात को, मेरी हर प्रार्थना को सुनते हैं—इन भावों का अभ्यास करने से गुरु सजीव हो जाते हैं और उसी रूप में परिवर्तित हो जाते हैं।



गुरु-गरिमा

(सङ्कलित)

गुरु-गरिमा को शब्दों द्वारा प्रकट करना अत्यन्त दुर्लभ है। भारतीय संस्कृति ने गुरु को साक्षात् पर-ब्रह्म का स्वरूप माना है। भक्ति, योग, ज्ञान, वैराग्य एवं मन्त्र-शास्त्र, तन्त्र-शास्त्र, पुराण तथा ब्रह्म-विद्या के आगार, वेद के शिरोभाग उपनिषद्—कोई ऐसा स्थल नहीं, जहाँ गुरु की पवित्र महिमा का कीर्तन न हो।

वेद-शास्त्र, तन्त्र और पुराण-सम्मत श्रीरामचरित मानस के प्रारम्भ में ही गोस्वामी तुलसीदास ने गुरु-पद की वन्दना इन शब्दों में की है—

बन्दाँ गुरु-पद-कञ्ज कृपा-सिन्धु नर-रूप हरि ।

महा-मोह तम पुञ्ज जासु वचन रवि-कर-निकर ॥

इस प्रकार गुरु को 'नर-रूप हरि'—मनुष्य के वेष में साक्षात् परमात्मा कहा है।

जब गुरु परमात्मा-स्वरूप ही है, तब उसके कृपा-सिन्धु होने में क्या सन्देह ? और उसके शब्द गाढ़ मोहान्धकार को नष्ट करने के लिए प्रखर सूर्य-किरणों के समान क्यों न होंगे ?

बिना ज्ञान के हृदय का अन्धकार मिट नहीं सकता। ज्ञान गुरु से ही प्राप्त होता है। छान्दोग्यो-पनिषद् में कहा है—'इह आचार्यवान् पुरुषो वेद।' इसीलिये श्रुतियों ने—'आचार्य-देवोभव' की आज्ञा दी है। ज्ञान के समान अन्य कोई वस्तु पवित्र नहीं है। जन्म-जन्म के सञ्चित पापों को भस्म करने की शक्ति ज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी में नहीं। स्वयमेव भगवान् कृष्ण अर्जुन से कहते हैं—'हे अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधन को भस्म कर देती है, वैसे ही ज्ञानाग्नि सम्पूर्ण कर्मों को भस्म कर देती है।' (गीता अ० ४-३७)।

ऐसा पवित्र ज्ञान-तत्त्व ज्ञानी गुरु की शरण में रहकर ही प्राप्त किया जा सकता है। ज्ञान का महत्त्व वर्णन करके, भगवान् कृष्ण ज्ञान की प्राप्ति का उपाय बताते हुए अर्जुन से कहते हैं—'तत्त्व-ज्ञानी पुरुषों की श्रद्धा-पूर्वक सेवा करते हुए, उनसे प्रश्न करने पर वे मर्म-ज्ञानी महात्मा तुझे ज्ञान का उपदेश करेंगे।' (गीता अ० ४-३४)।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ज्ञान-प्राप्ति हेतु भगवान् अर्जुन से यह नहीं कहते कि तुझे ज्ञान का उपदेश मैं करूँगा क्योंकि अधिकारी शिष्य को ज्ञान गुरु-उपदेश से ही होता है, अन्य कोई उपाय नहीं है। राम, कृष्ण आदि ने अवतार लेकर ज्ञान-लाभ के लिए गुरु की ही शरण ली। गुरु-गृह में जाकर ही उन्होंने विधि-वत् अध्ययन किया। अतः परमार्थ-पथ पर गुरु के मार्ग-दर्शन बिना एक पग भी आगे बढ़ना असम्भव है। लोक में भी गुरु की अनुकम्पा प्राप्त करनेवाले पुरुष ही सफलता प्राप्त करते हैं।

शास्त्र-महोदधि भगवान् वेद - व्यास जी ने 'कूर्म-पुराण' में दस प्रकार के लौकिक गुरुओं का उल्लेख किया है—१ उपाध्याय, २ माता-पिता, ३ बड़ा भाई, ४ राजा, ५ मामा, ६ ससुर, ७ नाना, ८ बाबा, ९ वर्ण-ज्येष्ठ (ब्राह्मण; वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः), १० पितामह।

अनेक गुरुओं के वर्ग में महर्षि वशिष्ठ जी ने गुरुता में उपाध्याय से दस गुना अधिक आचार्य, आचार्य से सौ गुना अधिक पिता और पिता से दस गुना अधिक माता का महत्त्व माना है। यथा—

उपाध्यायाद् दशाचार्यः, आचार्याणां शतं पिता ।
पितुर्दश - गुणं माता, गौरवेणातिरिच्यते ॥

ब्रह्म-ज्ञानी आचार्य का पद माता-पिता से भी ऊँचा है। शैषिक प्रकरण में पाणिनि ने योनि-सम्बन्ध से विद्या-सम्बन्ध को उच्च स्थान दिया है। यथा—‘विद्या-योनि-सम्बन्धेभ्यो बृज् ।’ (४-३-७७) यहाँ ‘विद्या’ से सामान्य विद्या से तात्पर्य नहीं है, अपितु जन्म-मरण-रूपी बन्धन से मुक्त करनेवाली विद्या से तात्पर्य है।

महा-भारत (शा० १०८-१७) में भी कहा गया है—‘गुरुर्गरीयान् मातृतः पितृतस्त्वेति मे मतिः ।’ अर्थात् माता-पिता से गुरु-देव श्रेष्ठ हैं।

शुक्ल यजुर्वेद की ब्राह्मण-संहिता में कहा है—गन्धर्व (वेद-विद्या को धारण करनेवाला), विद्वान् (ब्रह्म-वेत्ता, अमृत ब्रह्म का प्रवचन करनेवाला, सत्, चित् तथा आनन्द-मय ब्रह्म के अत्यन्त गुप्त तीन पदों को जाननेवाला) और पिता का भी पिता गुरु है। यथा—

प्रतद्वो चेदमृतं नु विद्वान्, गन्धर्वा धाम विभृतं गुहा-सत् ।
त्रीणि पदानि निहिता गुहाऽस्य, यस्तानि वेद स पितुः पिता सत् ॥



सर्व-साधनों की कुंजी गुरु-सेवा

गुरु से अधिक न मन्त्र है, न यन्त्र है; न तप है, न जप; न देव हैं, न शिव। सर्व-देवाधिष्ठान गुरुदेव ही सर्व-निधान हैं। गुरु की पदवी भगवान् से भी उच्च है, इसलिये नित्य स्व-शिर में श्वेत-वर्ण अधोमुख सहस्र-दल-कमल की कर्णिका में चन्द्र-मण्डल-निवासी हंस-पीठ पर विराजमान, शुक्ल-वर्ण, शुक्लालङ्कारों से विभूषित, ज्ञानानन्द से प्रसन्न-चित्त, चार भुजावाले, ज्ञान-मुद्रा-वर-अभय से युक्त हस्तोंवाले, त्रिनेत्र, प्रसन्न-मुख, रक्ताभ-नेत्रोंवाले रक्ताभरण-विभूषित, शक्ति-संयुक्त, श्रीशिव-स्वरूप श्रीगुरुदेव का ध्यान करके उनके चरण-कमलों से बहते हुये अमृत से अपने आपको भीगा हुआ आनन्द-मय पवित्र ज्ञान कर मानसोपचारों से उनका पूजन करके जो प्राणी नित्य श्रीगुरु-मन्त्र को जपता है, वह साधक शीघ्र स्वाभीष्ट-पद पर पहुँच जाता है।

गुरु के प्रसन्न होने पर साधक सिद्ध हो जाते हैं—“जब गुरु होते हैं दयाल, झट में करते हैं निहाल।” अतः गुरु-सेवा ही सर्व-साधनों की कुंजी है।

गुरु, ज्ञान-गरिमा और शक्ति

(‘चण्डी’ वर्ष २२ में प्रकाशित निबन्ध)

गुरु और ज्ञान का घनिष्ठ सम्बन्ध है। गुरु के बिना ज्ञान नहीं हो सकता और जिसमें ज्ञान नहीं है, वह गुरु भी नहीं कहला सकता। गुरु प्राणि-मात्र के लिये ही नहीं, चराचर के लिये आवश्यक है। एक छोटे से पौधे के लिये भी गुरु की आवश्यकता होती है, नहीं तो वह टेढ़ा-मेढ़ा अपङ्ग होगा तथा वर्धिष्णु नहीं होगा। पशु और पक्षियों को गुरु की कितनी आवश्यकता पड़ती है, यह बताने की जरूरत नहीं है।

साधारण ज्ञान रखनेवाले यह भली-भाँति जानते हैं कि पग-पग पर लाठी-डण्डे से ही सही, उन्हें ज्ञान कराया जाता है। तात्पर्य यह कि सब प्राणियों को गुरु की आवश्यकता किसी-न-किसी रूप में पड़ती ही है। मनुष्य के लिये गुरु तो परम पिता परमेश्वर के तुल्य है। गुरु के विषय में गुरु-भक्तों ने अपनी जो अनुभूति प्रकट की है, वह अतिशयोक्ति-जैसी भले ही लगे किन्तु गम्भीरता से विचार करने पर पता चलता है कि गुरु किसी भी मनुष्य के लिये ज्ञान-दाता, शक्ति-प्रदाता, बाह्य और अभ्यन्तर के नेत्रों का उद्घाटक है। गुरु अपने भक्तों को अभीष्ट लक्ष्य तक पहुँचा देता है। गुरु की सारी प्रक्रियाएँ अपने शिष्य के लिये कल्याण-कारिणी होती हैं। सम्भवतः इसी विचार से गोस्वामी तुलसीदास ने गुरु की महिमा का वर्णन करते हुये बताया है—

श्रीगुरु-पद-नख मनि-गन जोती ।

सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती ॥ बाल-काण्ड

जे गुरु-चरन-रेनु सिर धरहीं ।

ते जनु सकल विभव बस करहीं ॥ अयोध्या-काण्ड

शिव, ज्ञान और गुरु में कोई भेद नहीं है। गुरु-भक्त को चाहिये कि वह शिव, विद्या और गुरु तीनों पर एक जैसी श्रद्धा रखे, वैसी ही भक्ति भी करे, अन्यथा पृथक्ता की भावना आने पर सिद्धि-प्राप्ति में सन्देह रहता है। यथा—

यो गुरुः स शिवः प्रोक्तः, यः शिवः स गुरु स्मृतः ।

यथा शिवः तथा विद्या, यथा विद्या तथा गुरुः ॥

अर्थात् जो गुरु है, वही शिव है; जो शिव है, वही गुरु है, ऐसा स्मरण करना चाहिये। जैसा शिव है, वैसी ही विद्या (ज्ञान) है और जैसा ज्ञान होता है, वैसा ही गुरु को समझना चाहिये। सारांश कि शिव, विद्या और गुरु तीनों एक समान हैं।

शिवो विद्या गुरोस्तस्मात्, भक्त्या च सदृशं फलम् ।

सर्व-देव-मयो देवि !, सर्व - शक्ति - मयो हि सः ॥

अर्थात् शिव, विद्या और गुरु तीनों एक ही हैं। इसलिये इन तीनों में जैसी भक्ति होती है, वैसा ही फल भी प्राप्त होता है। क्योंकि गुरु-देव सर्व-देव-मय होते हैं और सभी शक्तियों से पूर्ण होते हैं। इसलिये इनमें अभेद-बुद्धि रखनी चाहिये।

शिष्य में भेद-बुद्धि होना तथा श्रद्धा और भक्ति का अभाव घातक होता है। कल्याण चाहने-वालों के लिए गुरु में भक्ति और श्रद्धा उसी तरह होनी चाहिए, जिस तरह ज्ञान-पिपासु को ज्ञान के लिए रहती है। इसके लिए उसे गुरु का आज्ञा-कारी होना पहली सीढ़ी है। क्योंकि—

सगुणो निर्गुणो वापि, तस्याज्ञां शिरसा वहेत् ।

श्रेयोऽर्थी यस्तु, गुर्वाज्ञां मनसाऽपि न लंघयेत् ॥

अर्थात् गुरु सगुणोपासक हों या निर्गुणोपासक, उनकी आज्ञा शिर पर धारण कर पालन करना चाहिए। जो व्यक्ति कल्याण चाहता है, उसे गुरु की आज्ञा का मन से भी उल्लंघन नहीं करना चाहिये। इसीलिये गुरु की महत्ता बताते हुये महर्षि वेद-व्यास ने कहा है—

गुर्वाज्ञा-पालकः सम्यक्, ज्ञान-सम्पत्तिमश्नुते ॥

गुरुर्देव-मयो साक्षात्, तद् गृहं देव - मन्दिरम् ॥

अर्थात् गुरु की आज्ञा का पालन करनेवाला अच्छी तरह ज्ञान - धन का उपभोग करता है। इसीलिये गुरु देव - मय कहे जाते हैं और उनका गृह देव - मन्दिर समझा जाता है। गुरु समक्ष में हों अथवा परोक्ष में, उनकी आज्ञा का पालन तन-मन-धन से ही नहीं, चलते-फिरते उठते-बैठते सोते-जागते खाते-पीते समय भी करना ही चाहिये।

इसका मुख्य कारण यह है कि गुरु शारीरिक, दैविक, भौतिक सभी पापों को भस्म कर डालते हैं। गुरु की आवश्यकता मनुष्य के लिये तब सबसे अधिक रहती है, जब वह बाहरी और भीतरी सभी कलुषों से घिरा रहता है। ज्ञान का कोई मार्ग सूझता नहीं है, उसकी चेतना शून्य रहती है। उस समय गुरु का मिलन उसे सुवर्ण और स्वर्णकार के साक्षात्कार-जैसा कार्य करता है। शिष्य को गुरु का मिलन चमत्कृत कर डालता है। शिष्य को संसार में दर्शनीय ही नहीं, अपितु मूल्यवान् मानव बना देता है। इसीलिए लिंग-पुराण में गुरु की महिमा बताते हुए व्यास जी ने कहा है—

यथैव वह्नि-सम्पर्कात्, मलं त्यजति काश्चनम् ।

तथैव गुरु - सम्पर्कात्, पापं त्यजति मानवः ॥

अर्थात् आग के संसर्ग से जिस तरह सुवर्ण अपनी मैल को दूर कर डालता है, उसी तरह मनुष्य गुरु के साथ हो जाने से अपने समस्त पापों को धो डालता है।

सारांश यह कि गुरु और अग्नि में बहुत साम्य है। गुरु मनुष्य के शारीरिक, मानसिक, आभ्यन्तरिक कलुषों को अपने सम्पर्क से ही साफ कर देते हैं। गुरु के समीप जो सदा-सर्वदा निवास करते हैं, गुरु से ज्ञान सीखते हैं, गुरु के आदेश का पालन करते हैं, गुरु की कही हुई बातों को बिना हिचकिचाहट के मानते और करते हैं, ऐसे व्यक्ति कितना लाभान्वित होते हैं, यह किसी को बताने की जरूरत नहीं है।

कबीर आदि सन्त भक्तों ने तो गुरु को देव-मय ही नहीं, ईश्वर से तनिक भी कम स्थान गुरु को नहीं दिया है। उन भक्तों का कहना है कि गुरु से कभी हानि नहीं होती। गुरु इत्र-फरोश की तरह है। उनसे कुछ मिल गया, तो बहुत अच्छी बात, दिल-दिमाग खिल गया। नहीं मिला, समीप बंठे ही रहे, तो मुगन्ध का आनन्द मिलता रहता है अर्थात् ज्ञान की ज्योति से मनुष्य द्योतित होता रहता है, नयी-नयी बातें सुनता रहता और सीखता है।

गुरु की शरण में जाने के पहले गुरु-देव के साथ अपने सम्बन्ध को समझ लेना आवश्यक है। गुरु के पास जाकर उन पर भूलकर भी क्रोध नहीं करना चाहिए। गुरु का कृपा-पात्र बनकर ही उनकी शरण में रहना श्रेयस्कर है। कुछ दिन गुरु की शरण में रहने पर तो क्रोधादि दुर्गुण मनुष्य के शरीर से उसी प्रकार निकल भागते हैं, जिस तरह सूर्य की किरण से भेंट हो जाने पर धर का अन्धकार। ज्ञान-पिपासु को गुरु के पास वैसे ही रहना चाहिये, जिस तरह प्यास बुझाने के लिये कुएँ के पास पिपासु मुखापेक्षी होकर रहता है। गुरु सूर्य की तरह मनुष्य को कुछ-न-कुछ क्षण-क्षण में देता ही रहता है, कुछ लेता नहीं। इसलिये ऐसे उपकारी पर यदि अपने प्रमाद-वश क्रोध आ भी जाय, तो प्रकट नहीं करना चाहिए क्योंकि गुरु पर क्रोध करनेवालों को फिर संसार में ही नहीं, किसी लोक में भी शरण नहीं मिल पाती। इसलिये महर्षि वेद-व्यास ने कहा है—

कर्मणा मनसा वाचा, गुरोः क्रोधं न कारयेत् ।

तस्य क्रोधेन दह्यन्ते, आयुः श्रीर्ज्ञान-सत्-क्रियाः ॥

अर्थात् गुरु के प्रति कर्म से, मन से और वचन से भी क्रोध नहीं करना चाहिये। क्योंकि गुरु के क्रोध करने पर मनुष्य की आयु, श्री (लक्ष्मी तथा कान्ति), ज्ञान, सत्क्रियाएँ और यज्ञादि सभी भस्म हो जाते हैं।

गुरु के प्रति दुर्भावना रखनेवालों का धार्मिक जप, पूजा-पाठ और नियमादि भी निष्फल ही हो जाते हैं। गुरु से झूठ नहीं बोलना चाहिए क्योंकि असत्य पाप है और उसे गुरु की सेवा में रखने का अर्थ होता है, गुरु के साथ पाप-कर्म का व्यवहार करना। इसी तरह नियमादि तभी सफल होते हैं, जब गुरु की कृपा रहती है। गुरु की कृपा के बिना सांसारिक प्राणी का एक पग भी चलना दुरूह हो जाता है। गुरु के प्रति श्रद्धा, भक्ति, प्रीति रहने से मनुष्य में जितनी दैवी शक्तियाँ हैं, सतत पल्लवित-पुष्पित होती रहती हैं। इसी कारण से शास्त्रकारों ने हिदायत की है कि गुरु के विरुद्ध भूलकर भी अपशब्द का व्यवहार या प्रयोग नहीं करना चाहिए। अपनी क्रियाओं और वाणी को संयत रखकर ही गुरु की शरण में बैठकर ज्ञानार्जन करना चाहिये। शास्त्रज्ञ व्यास जी ने चेतावनी दी है—

चित्तेनैव च वित्तेन, तथा वाचा च सुव्रता ।

मिथ्या न कारयेत् देवि, क्रियया च गुरोः सदा ॥

अर्थात् चित्त से, धन से तथा वचन से और क्रिया के द्वारा झूठा व्यवहार नहीं करना चाहिए। गुरु के सामने असत्य का प्रयोग नहीं करना चाहिये।

मनुष्य भावावेश में तथा अज्ञान-वश यदि गुरु के गुण को न समझ सके, तो उसे सहसा दुर्गुण समझने की भूल न करे। यदि शिष्य को दुर्भाग्य-वश गुरु में कोई दुर्गुण दीख पड़े, तो उसका प्रसार-प्रचार न करे क्योंकि गुरु के दुर्गुण को जितना ही वह देखेगा, उतना ही उसका हृदय कलुषित होगा और जितना ही गुरु के गुणों का प्रसार करेगा, उतना ही उसके निजी गुणों का संसार में प्रकाशन और विज्ञापन होगा। इसीलिये गुरु-भक्त गुरु के गुणों का अधिकाधिक प्रचार करते हैं क्योंकि इससे उनके निजी गुणों का ही प्रसार-प्रचार होता है।

परोक्ष और समक्ष में भी गुरु का हित सोचना चाहिये। मन, वचन और कर्म से भी गुरु का हित-साधन करना चाहिये क्योंकि जो ऐसा नहीं करता, वह कृतज्ञ नहीं, कृतघ्न है। शिष्य के लिये कृत-

घनता रौरव नरक से भी बढ़कर जघन्य पाप समझा जाता है। ऐसा इसलिए समझा जाता है कि गुरुदेव मानव के शरीर, अङ्ग-प्रत्यङ्ग, बाह्य-अभ्यन्तर सबको शुद्ध करने का ज्ञान ही नहीं देते, अपने सम्पर्क से उन्हें विशुद्ध कर देते हैं। आभ्यन्तरिक शक्तियों को विकसित करते हैं, प्रसुप्त गुणों को संसार के कार्य के योग्य बनाते हैं, विवेक में विद्युत्-किरण जैसी तेजस्विता लाते हैं और मनुष्य को पत्थर से मणि बना देते हैं। गुरु ही पशुता से मानवता की ओर ले जाते हैं और मानवता से देवत्व की ओर ले जाकर ईश्वरत्व तक पहुँचा देते हैं, जहाँ मानव-जीवन सार्थक हो जाता है। इसीलिये कहा जाता है—

असमक्षं समक्षं वा, गुरोः कार्यं समाचरेत् ।

गुरुः हि सर्वदोषास्यः, वन्दनीयश्च सर्वदा ॥

अर्थात् प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष गुरु का कार्य सदा ही करना चाहिये क्योंकि गुरु इस जगत् में सर्वदा उपासना करने योग्य हैं और हमेशा वन्दनीय हैं।

आज भारतीय ज्ञान-गौरव की प्रगति की रुकावट का एकमात्र कारण गुरु की भक्ति का अभाव ही है। भारतीयों की शक्ति का ह्रास गुरु-भक्ति के अभाव से ही हुआ है। दुःख के साथ कहना पड़ता है कि भारतवर्ष में दिनानुदिन विद्यालय-महाविद्यालय स्थापित हो रहे हैं; विश्वविद्यालयों की स्थापना की धम है, किन्तु गुरु-भक्ति का नाम तक नहीं है! इसी का भयङ्कर परिणाम यह हो रहा है कि ज्ञान-विज्ञान स्थायी नहीं होता, हृदय को छूकर ही रह जाता है, हृदयस्थ नहीं होता। गुरु से गुरुअई और देवता से धूर्तता की जाती है, जिससे भारतीय समाज में विच्छृंखलता आ गई है। अध्येता तथा अध्यापक में भी आज गुरु-शिष्य का भाव नहीं, ज्ञान के क्रेता और विक्रेता का सम्बन्ध स्थापित हो गया है!

इसीलिये भारतीय ज्ञान-विज्ञान भी बाजारू पदार्थ हो गये हैं, जो देश के लिए घातक सिद्ध हो रहे हैं। ज्ञान मनुष्य के हृदय-पटल पर कलंक की तरह साबित हो रहा है। भगवान् करे, यह प्रवृत्ति भारत से शीघ्रातिशीघ्र दूर हो और गुरु की स्वर्ण-मयी प्रतिभा से भारतीय समाज देदीप्यमान हो, जिससे सम्पूर्ण विश्व भारत की ज्ञान-गरिमा को देखकर नत-मस्तक होकर एक बार फिर कह उठे—

‘हे भारत, अखिल-गुरो, भगवन्नमस्ते ।’



गुरु की श्रेष्ठता

गुरु से अधिक श्रेष्ठ न शास्त्र हैं और न तप। मन्त्र, देवी और शिव गुरु से अधिक नहीं हैं। देव-मूर्ति और जप भी गुरु से अधिक श्रेष्ठ नहीं हैं।

सदा गुरु के स्वरूप का ध्यान और उनके तत्त्व का जप करना चाहिये। गुरु के चरणोदक में काशी-क्षेत्र और गंगा का वास रहता है। गुरु निश्चय ही साक्षात् विश्वेश्वर तारक ब्रह्म हैं। ध्यान का मूल गुरु की मूर्ति है; पूजा का मूल गुरु के चरण हैं; मन्त्र का मूल गुरु के वचन हैं और सिद्धि का मूल गुरु की कृपा है।

दान, तप और तीर्थ-यात्रा की क्या आवश्यकता? जिसने गुरु के चरणों की पूजा कर ली, उसके द्वारा सारे जगत् की पूजा हो गई। ब्रह्माण्ड-रूपी पात्र में जो तीर्थ हैं, वे सब गुरु के चरण-तल में वास करते हैं।

साधनोपयोगी श्रेष्ठ पुस्तकें

* पूजा-रहस्य *

हिन्दुओं की पूजा का विवरण

मूल्य १५-०० रु०

सचित्र मुद्राएँ एवं उपचार

हिन्दुओं की पूजा में प्रयुक्त होनेवाली मुद्राओं एवं पूजोपचार (आवाहन, आसन, पाद्य, अर्घ्य, आचमन, स्नान, वस्त्र, गन्ध, अक्षत, पुष्प, धूप, नैवेद्य, ताम्बूल, प्रदक्षिणा) का प्रामाणिक वर्णन ।

मूल्य १५-०० रु०

सचिधि श्री कुण्डलिनी साधना

षट्-चक्रों एवं कुण्डलिनी-योग का विवेचन

मूल्य १५-०० रु०

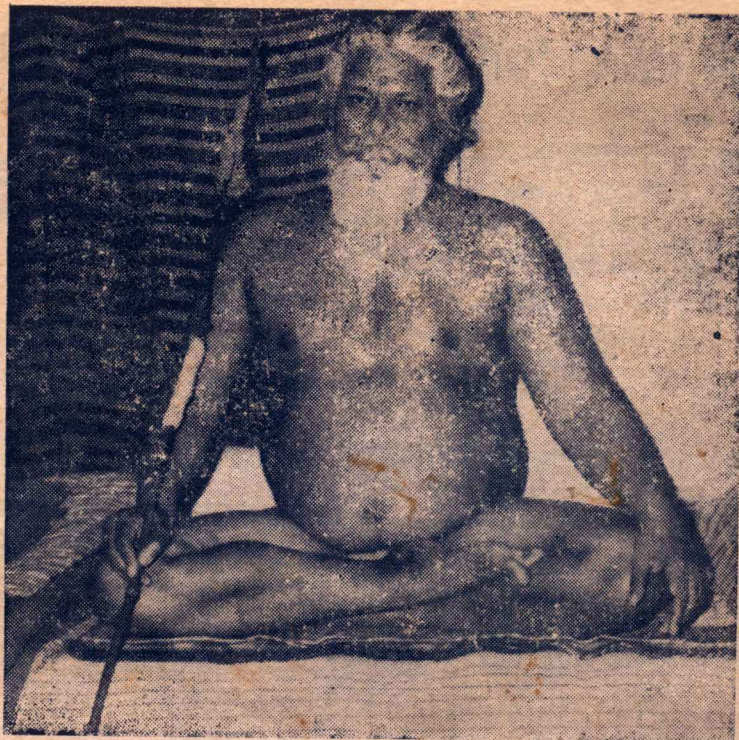
सचिधि दश-महाविद्यास्तोत्र-संग्रह

भ० काली, भ० तारा, श्री श्रीविद्या, श्रीभुवनेश्वरी आदि महा-विद्याओं के
स्तोत्रों के संग्रह

प्राप्ति-स्थान : कल्याण मन्दिर प्रकाशन, अलोपीबागमार्ग, प्रयाग-२११००६

चैत्र-वैशाख २०४६ वि०
रजि० सं० ३२६८१/५७

अप्रैल-मई १९८६
रजि० सं० ए० बी० ६६



धर्म-सम्राट् जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य सुमेरु पीठ

दण्डी संन्यासी स्वामी सत्यानन्द सरस्वती जी की शुभ-कामना

“...मैंने ‘चण्डी’ मासिक पत्रिका को देखा, पढ़ा एवं मनन किया। वह अपने आप में अद्वितीय है। मैं लगातार प्रति-मास उसका अवलोकन एवं अवगाहन करता हूँ। शाक्त-साधकों के लिए जगदम्बा का यह अनुपम वरदान है।

मैं पत्रिका के संस्थापक पण्डित देवीदत्त शुक्ल से परिचित था। एतद् पत्र द्वारा मैं ‘चण्डी’ पत्रिका व उसके अद्यतन सम्पादक श्री रमादत्त शुक्ल के प्रति माँ से प्रार्थना करता हूँ कि ‘चण्डी’ पत्रिका के सम्पादन में उनकी प्रतिभा का नित्य नूतन विकास करें।...”



गुरु-तत्त्व के द्रष्टा प्रो० शर्मा जी
की

पुण्य-स्मृति में हार्दिक श्रद्धाञ्जलि

• •

मुद्रक, प्रकाशक, सम्पादक
श्रुतशील शर्मा, एम० ए०